

खण्ड - 1

इकाई . 1

कारक एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण

(प्रथमा से तृतीया विभक्ति तक)

इकाई की रूपरेखा

- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 प्रस्तावना
- 1.3 कर्ताकारक (प्रथमा विभक्ति)
 - 1.3.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास
- 1.4 कर्मकारक (द्वितीया विभक्ति)
 - 1.4.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास
- 1.5 करणकारक (तृतीया विभक्ति)
 - 1.5.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास
- 1.6 सारांश
- 1.7 उपयोगी पुस्तकों की सूची
- 1.8 स्वपरखप्रश्न

1.1 उद्देश्य .

1. कारक का तात्पर्य समझना ।
2. विभक्ति का अर्थ समझना ।
3. कर्ता, कर्म एवं करण कारक को समझना ।
4. प्रथमा, द्वितीया एवं तृतीया विभक्ति के विविध प्रयोगों को समझना ।
5. संस्कृत वाक्य.रचना को समझना ।

1.2 प्रस्तावना .

शब्द क्या हैं ? पद क्या हैं ? और वाक्य क्या हैं, तथा संस्कृत वाक्य रचना किस प्रकार की जाती है ? इन सब प्रश्नों के उत्तर कारक विभक्ति एवं प्रत्ययों को जाने बिना हम प्राप्त नहीं कर सकते ।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार शब्दों को स्थूल रूप से दो प्रकार का कहा गया है . सुबन्त तथा तिङन्त । संज्ञावाचक आदि शब्दों में सुप् विभक्तियाँ (प्रत्यय) लगती है तथा क्रियावाचक 'भू' आदि शब्दों में विङ्' विभक्तियाँ लगती है। तथा 'हरिः' यह सुबन्त पद बन जाता है। इसी प्रकार 'भू' एक धातु शब्द है। इसमें विभक्ति लग जाने पर यह तिङन्त पद बन जाता है। ये 'सुप्' तथा 'तिङ्' विभक्ति कहलाते हैं तथा शब्द के पीछे लगने के कारण प्रत्यय भी कहे जाते हैं। इन सुबन्त 'हरि' आदि तथा तिङन्त 'भवति' आदि पदों के आकांक्षा आदि से युक्त समूह को वाक्य कहते हैं।

क्रियार्थ को निष्पन्न करने के लिए पदों का जिस अर्थ के द्वारा क्रिया से सम्बन्ध होता है उसे कारक कहते हैं। पातञ्जल महाभाष्य में कारक शब्द की व्युत्पत्ति 'करोति क्रियां निर्वर्तयति' इस प्रकार कही गई है। अर्थात् 'क्रिया. निष्पादकत्वं कारकत्वम्' या 'क्रियान्वियत्वं कारकत्वम्' या 'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्' यह कारक का लक्षण बनता है। उदाहरणार्थ 'रामः गच्छति' इस वाक्य में रामः पद का कर्तृरूप में गमनक्रिया से अन्वय बनता है। वैयाकरणों ने छः कारक कहे हैं दृ

कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च ।

अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट् ॥

अर्थात् कारक छः हैं। संस्कृतव्याकरण में तीन वचन (एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन) माने जाने के कारण सु, औ, जस् आदि विभक्तियों को तीनों वचनों में प्रथमा, द्वितीया आदि रूपों में विभक्त किया है अतः इन्हें विभक्ति भी कहते हैं। ये 'सुप्' आदि प्रत्यय विभक्तियों के अनुसार इस प्रकार हैं.

विभक्ति एक वचन द्विवचन बहुवचन

प्रथमा विभक्ति	सु	औ	जस्
द्वितीया विभक्ति	अम्	औट्	शस्
तृतीया विभक्ति	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी विभक्ति	डे	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी विभक्ति	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी विभक्ति	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी विभक्ति	ङि	ओस्	सुप्

इनमें षष्ठी विभक्ति तो है, पर कारक नहीं। क्योंकि षष्ठी विभक्त्यन्त पदार्थ में क्रियाजनकता नहीं होती। यथा 'कृष्णस्य पुत्रः विद्यालयं गच्छति' इस वाक्य में गमन रूप क्रिया में कृष्ण का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। गमनक्रिया का कर्ता पुत्र है और पुत्ररूप कर्ता के द्वारा पितारूप कृष्ण में परम्परया क्रियाजनकता नहीं मानी जाती। अतः 'सम्बन्ध' कारक नहीं माना जाता।

व्याकरण शास्त्रा में इन कारकों का विवेचन करने के लिए जो प्रकरण है वह कारक.प्रकरण कहलाता है। कौन सी विभक्ति किस कारक के लिए प्रयुक्त होती है यह भी इस प्रकरण में बताया जाएगा अतः इसे विभक्त्यर्थ प्रकरण भी कहा जाता है। अब छः कारकों और सातों विभक्तियों का क्रमशः संक्षिप्त परिचय जानना अपेक्षित होगा।

1. **कर्ता कारक** . क्रिया को करने वाला कर्ता कहा जाता है। 'छात्रः पठति' इस वाक्य में 'छात्रः' कर्ता का 'पठति' क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध है और कर्ता तथा क्रिया एक दूसरे से आकांक्षा युक्त है, अतः सीधे सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार क्रिया के साथ अन्वय करने की योग्यता होने के कारण प्रथमा विभक्ति युक्त 'रामः' कर्ता कारक हुआ।

(विशेष. कर्तृवाच्य में कर्ता में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा. 'रामः वेदं पठति' किन्तु कर्मवाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा. 'रामेण वेदः पठ्यते।')

2. **कर्मकारक** . जो क्रिया द्वारा कर्ता को अत्यन्त अभीष्ट हो वह कर्मकारक कहलाता है। यथा, 'अनुजः कथा लिखति।' इस वाक्य में 'कथां' इस कर्म का 'लिखति' इस क्रिया के साथ साक्षात् व्यवधानरहित सम्बन्ध है अतः क्रिया के साथ अन्वय करने की योग्यता होने के कारण द्वितीयाविभक्तियुक्त 'कथां' यह कारक हुआ।

विशेष. कर्तृवाच्य वाक्य में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। यथा . 'रामः वेदं पठति।' किन्तु कर्मवाच्य में कर्म में प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त होती है. 'रामेण वेदः पठ्यते।' इसके अतिरिक्त कुछ अव्ययों तथा कर्मप्रवचनीय संज्ञा वाले शब्दों के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है जिसका विस्तृत विवेचन आगे सत्रों के क्रम में किया गया है।

3. **करण कारक** . जो क्रिया की सिद्धि में विशिष्ट उपकारक हो वह करणकारक कहलाता है। इसमें तृतीया विभक्ति होती है। यथा . 'शिक्षकः दण्डेन ताडयति' यहाँ 'दण्ड' साधन का 'ताडन' क्रिया के साथ सीधे सम्बन्ध हो रहा है। अतः क्रिया के साथ अन्वय करने की योग्यता होने के कारण 'दण्डेन' यह तृतीया विभक्ति युक्त करण कारक हुआ।

(विशेष. तृतीया का प्रयोग सहार्थक तथा हेत्वादि अर्थों में भी होता है। जिनका विवेचन आगे किया जाएगा।)

4. **सम्प्रदान कारक** . जिसको कोई वस्तु दी जाये या जिसके निमित्त कोई कार्य किया जाय अथवा कोई वस्तु जिसे रुचिकर हो वह कारक सम्प्रदान कहलाता है। इन सभी स्थानों में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा. 'माता बालकाय मोदकं ददाति।' 'हरये दुग्धं रोचते।'

(विशेष . नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा इत्यादि के योग में भी चतुर्थी का प्रयोग आगे बताया जाएगा।)

5. **अपादानकारक** . जहाँ से कोई वस्तु पृथक होती हो या जिससे कुछ उत्पन्न होता हो अथवा जिसमें भय हो या भय के कारण जिससे रक्षा की जाती हो वह अपादान कहलाता है। अपादान में पञ्चमी विभक्ति प्रयुक्त होती है। यथा.

‘वृक्षात् पत्रं पतति।’ ‘गङ्गा हिमालयात् प्रभवति।’ ‘धनिकः चौराद विभेति।’
‘सिंहात् त्रायते नगरम्।’ (विशेष. इनके अतिरिक्त हेत्वादि प्रसंगों तथा कुछ शब्दों
के योग में भी पञ्चमी प्रयुक्त होती है जिनका विवेचन आगे किया जाएगा।)

6. **षष्ठी विभक्ति** . सम्बन्ध को कारक नहीं कहा जाता क्योंकि उसका क्रिया
से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता अपितु उसका सम्बन्ध कर्ता, कर्म आदि कारकों से
हाता है अतः ‘क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्’ यह लक्षण उसमें घटित नहीं होता। यथा
. ‘दशरथस्य पुत्रः रामः वनं गच्छति’ यहाँ ‘दशरथस्य’ का ‘गच्छति’ क्रिया के
साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। अतः इसे कारक नहीं कहते हैं। सम्बन्ध में
षष्ठी विभक्ति होती है।

7. **अधिकरण** . कर्ता और कर्म के द्वारा कर्तृनिष्ठ तथा कर्मनिष्ठ क्रिया का
आधार अधिकरण कहलाता है। अधिकरण में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है।
यथा. ‘कटे आस्ते स संन्यासी’ (कर्तृनिष्ठ)। ‘स्थाल्यां पचति पायसम्’ (कर्मनिष्ठ)।

8. **सम्बोधन** . सम्बोधन का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि यह तो
वाक्य में केवल व्यक्ति के अभिमुखीकरण के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें प्रथमा
विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा . सीते!, प्रभो!, इत्यादि।

कारकों के प्रयोग.नियमों को जानने के साथ यह भी जानना आवश्यक है
कि वक्ता जिस प्रकार से अपने भावों को प्रस्तुत करना चाहता है उसी के
अनुरूप कारक होंगे। अतः कहा गया है. ‘विवक्षातः कारकाणि भवन्ति।’

व्याकरण में कारक का प्रमुख स्थान है। इसके बिना वाक्य का शुद्धज्ञान
होना कठिन है अतः कारकों का विशद विवेचन परमावश्यक हैं।

1.3 कर्ता कारक (प्रथमा विभक्ति)

1. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रं प्रथमा 2/3/46//

अर्थ. प्रातिपदिकार्थमात्र में लिंगमात्र की अधिकता में परिमाण मात्र में और
वचनमात्र में प्रथमा होती है। किसी शब्द के उच्चारण करने पर निश्चित रूप से

जिस अर्थ की उपस्थिति हो अर्थात् प्रतीति होती है उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं अतः कहा गया है. 'नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः।'

सूत्र में उच्चारित 'मात्र' शब्द अवधारणार्थक है। चारों मानकों प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण और वचन के साथ 'मात्र' शब्द का सम्बन्ध है। सूत्र का अर्थ यह है कि प्रातिपदिकार्थ में ही, प्रातिपदिकार्थ होते हुए लिंगमात्र की अधिकता होने पर, प्रातिपदिकार्थ होते हुए परिमाणमात्र की अधिकता होन पर और प्रातिपदिकार्थ होते हुए संख्यामात्र भी रहने पर प्रथमा विभक्ति होती है। प्रातिपदिकार्थमात्र तो सर्वत्र सहता ही है।

उदाहरण .(1) प्रातिपदिकार्थमात्रे अर्थात् किसी शब्द के उच्चारण करने पर नियतरूप से जिस अर्थ की प्रतीति होती हो ऐसे प्रातिपदिकार्थ से प्रथमा विभक्ति होने का उदाहरण है. उच्चैः (उपर), नीचैः (नीचे), कृष्णः, श्रीः (लक्ष्मी) तथा ज्ञानम् ।

1. यहाँ उच्चैः और नीचैः अव्यय है अतः अलिङ्ग हैं ।
2. 'कृष्णः' नित्य पुलिङ्ग है तथा इससे 'कृष्ण' का वासुदेव अर्थ निश्चित रूप से उपस्थित है
3. 'श्रीः' नित्य स्त्रीलिङ्ग है। 'श्री' शब्द के उच्चारण से लक्ष्मी यह अर्थ निश्चित रूप से उपस्थित है।
4. 'ज्ञानम्' नित्य नपुंसकलिङ्ग है। 'ज्ञान' शब्द से विद्या की सम्पन्नता यह अर्थ निश्चित रूप से उपस्थित है।

अतः प्रातिपदिकार्थ के उदाहरण अलिङ्ग और नियतलिङ्ग होंगे ।

(2) लिङ्गमात्राधिक्ये. अर्थात् प्रातिपदिकार्थ होते हुए लिंगमात्र की अधिकता हो तो भी प्रथमा विभक्ति होती है। यथा .

1. तटः (पुल्लिङ्ग)
2. तटी (स्त्रीलिङ्ग)

3. तटम् (नपुंसकलिङ्ग)

अर्थात् 'तट' शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होने के कारण लिङ्गमात्राधिक्य का उदाहरण है ।

(3) परिमाणमात्रे. अर्थात् कहीं पर भी किसी शब्द से केवल परिमाण की अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती अपितु प्रातिपदिकार्थ की अधिकता होने पर प्रथमा विभक्ति होती है। यथा .

1. 'द्रोणो व्रीहिः' अर्थात् द्रोण (माप.तौल हेतु परिमाण विशेष) भर चावल । यहाँ द्रोण परिमाण और व्रीहि द्रव्य में परिच्छेद्य.परिच्छेदकभा रूप सम्बन्ध से अन्वय करने के लिए परिमाण अर्थ में प्रथमा की जाती है।

(4) वचनमात्रे. अर्थात् एक, द्वि आदि से एकत्व द्वित्व आदि संख्यारूप अर्थ उक्त होने पर भी वचन ग्रहणसामर्थ्य से उक्तार्थानामप्रयोगः इस नियम को बाधकर 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं। इसलिये संख्यामात्रे का उच्चारण किया जिससे एक, द्वि, बहु में स्वतः संख्यावाचक होते हुए भी प्रथमा विभक्ति का विधान हो, जिससे से पद बन सकें। यथा .

1. एकः, द्वौ, बहवः

सूत्र में 'मात्र' शब्द के ग्रहण करने का दूसरा फल यह है कि 'कारक' आदि अर्थ की अधिकता प्रतीत होने पर प्रथमा विभक्ति नहीं होती ।

2. सम्बोधने च 2/3/47//

अर्थ . सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है। पूर्व सूत्र से (2.3.46) 'प्रथमा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति होती है। 'प्रातिपदिकार्थ' से अधिक प्रतीति होने वाले अर्थ के कारण उसका पृथक् निर्देश किया जा रहा है। सम्मुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है। सिद्ध पदार्थ का क्रिया के प्रति विनियोग करने के लिए सम्बोधन का आश्रय लिया जाता है।

सम्बोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति आमन्त्रित विभक्ति भी कही जाती है। उदाहरण.
हे राम।

3. कारके 1/4/23//

अर्थ . यह अधिकार सूत्र है। अधिकार होने के कारण “तत्प्रयोजको हेतुश्च” (1. 4.55) सूत्र तक इसकी अनुवृत्ति रहेगी। इसके फलस्वरूप अपादानादि संज्ञा. विधान करने वाले सत्रों में ‘कारके’ का प्रभाव पड़ने के कारण कर्म, कर्ता, करण आदि ‘कारक’ कहलाते हैं। कारक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ‘करने वाला’ (करोति इति कारकम्.कृ+ण्वुल=कारक। कारक का क्रिया के साथ अन्वय होता है। कारक छह है.कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण। सम्बन्ध कारक नहीं है, क्योंकि उसका क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है।

1.3.1. उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास

उदाहरण वाक्य .

1. रामः पठति ।
2. रमेशः गच्छति ।
3. बालकाः वदन्ति ।
4. आशा पाठयति ।
5. फलं पतति ।
6. हे राम !
7. हे विष्णो !
8. हे हरे !
9. भोः सुते !
10. भोः कन्ये !

1 1. अग्ने! नय सुपथाराये अस्मान् !

1 2. हे विधातः ! कृपां कुरु ।

अभ्यास .

1. हे ! (मुनिः)

2. भोः ! (सीता)

3. गच्छन्ति । (बालिका)

4. पठतः । (बालकः)

5. पतन्ति । (पत्रम्)

1.4 कर्मकारक . (द्वितीया विभक्ति)

4. कर्तुरीप्सिततमं कर्म 1/4/49//

अर्थ. कर्ता (अपनी) क्रिया से (जिस पदार्थ को) सर्वाधिक प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस कारक को 'कर्म' कहते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि 'कर्तुः' पद का क्या प्रयोजन है ?

सूत्र में 'कर्तुः' पद न रखने पर 'मा'गे'गु अश्वं बध्नाति' (= उड़द के खेत में घोड़े को बांधता है) में 'मा'ग' को भी कर्म संज्ञा हो जाती, क्योंकि उड़द खाना भी घोड़े को अभी'ट है। किन्तु 'कर्तुः' पद का प्रयोग करने पर 'मा'ग' को कर्म.संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि 'मा'ग' घोड़े (कर्म) की तो अभी'ट है, किन्तु बांधने वाले (कर्ता) को ईप्सिततम नहीं है। वाक्य में 'बध्नाति' क्रिया का उल्लेख किया गया है । उसके (क्रिया के) द्वारा कर्ता का इ'टतम अश्व है, अतः वह कर्मसंज्ञक हुआ। 'बन्धन' क्रिया का अधिकरण होने से 'मा'गे' में 'सप्तमी' विभक्ति हुई है। सूत्र में 'तमप्' ग्रहण न करने पर केवल 'ईप्सित' को भी कर्मसंज्ञा होनेलगती है। उसका निराकरण करने के लिए 'तमप्' ग्रहण किया गया है। जिसके फलस्वरूप 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' (=दूध से भात खाता है) में 'पयस' को 'कर्म' संज्ञा नहीं हुई। यद्यपि भोजन क्रिया के द्वारा कर्ता को 'पय'

तथा 'ओदन' दोनो ही अभी"ट है तथापि ओदन को निगलने में 'पय' सार्थक है, 'कर्ता' का इ"टतम नहीं है। अतः 'पयसा' में तृतीया विभक्ति हुई ।

5. अनभिहिते 2/3/1//

अर्थ. अनभिहित 'बुद्ध' का अर्थ है. अकथित । इस विभक्तिविधायकप्रकरण में 'अनभिहित' इस सूत्र का अधिकार है। अर्थात् अनुक्त कर्मादि से विभक्ति का विधान होता है। जो क्रिया से उक्त नहीं अर्थात् साक्षात् सम्बद्ध नहीं है वह अनुक्त कहलाता है।

6. कर्मणि द्वितीया 2/3/2//

अर्थ. कर्म अनुक्त होने पर द्वितीया हो।

उदाहरण .हरिं भजति। यहाँ हरि अनुक्त कर्म है क्योंकि यहाँ 'भजति' क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध 'भक्तादि' कर्ता कारक का है कर्म का नहीं अतः द्वितीया विभक्ति होगी। कर्म उक्त होने पर तो 'प्रातिपदिकार्थ' मात्र में प्रथमा होगी। 'कर्म' आदि का अभिधान प्रायः तिङ् कृत, तद्धित तथा समास द्वारा होता है। यथा तिङ्.हरिः सेव्यते (=हरि की सेवा की जाती है)। कृत. लक्ष्म्या सेवितः (=लक्ष्मी द्वारा सेवित)। तद्धित.शतेन क्रीतः 'गत्यः' (=सौ से खरीदा हुआ)। समास.प्राप्तः आनन्दः यं स प्राप्तानन्दः (=जिसको आनन्द ने प्राप्त कर लिया है) कहीं.कहीं निपात द्वारा भी कर्मादि उक्त होते हैं। जैसे . 'वि"वृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' (=वि"ा का पेड़ भी बढ़ा कर स्वयं काटना उचित नहीं)

7. तथायुक्तं चानीप्सितम् 1/4/50//

अर्थ. (पूर्व सूत्र में यह बताया जा चुका है कि क्रिया के माध्यम से कर्ता का ईप्सिततम 'कर्म' माना जाता है। जहाँ पर कर्म के लिये क्रिया होती है, वहाँ कर्म 'ईप्सित' होता है। ईप्सित के साथ अनीप्सित भी कर्म हो जाता है। इसी का प्रतिपादन किया जा रहा है।)

क्रिया से युक्त ईप्सिततम के समान अनीप्सित (उपेक्ष्य) भी 'कारक' संज्ञक होने के साथ कर्मसंज्ञक होता है।

(1) उदासीन कर्म का उदाहरण. ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति. (= 'गाँव को जाते हुए तिनके को भी छूता है।') यहाँ गच्छति क्रिया के सम्बन्ध में 'ग्राम' तो कर्ता का ईप्सिततम है फिर भी जाते.जाते तिनके का स्पर्श भी अनायास हो जाता है जबकि 'स्पर्श' के विषय में कर्ता उदासीन है। अतः 'तृणम्' में भी द्वितीया हुई ।

(2) द्वेष्य का उदाहरण. 'ओदन भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते' (= 'भात खाते हुए विष खा लेता है।') इस उदाहरण में खाने वाले को विष ईप्सित नहीं है। भोजन क्रिया द्वारा कर्ता का प्राप्य इष्टतम 'ओदन' है। 'भुङ्क्ते' क्रिया के साथ योग होने पर प्रकृत सूत्र में अनीप्सित होने पर भी 'विष' की कर्म संज्ञा हुई। फलस्वरूप 'विषम्' में द्वितीया विभक्ति हुई ।

8. अकथितं च 1/4/51//

अर्थ . अपादानादि से अविवक्षित कारक ही कर्म.संज्ञा होती है। दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध् , प्रच्छ्, चि, ब्रू, 'गास्, जि, मथ् , तथा मु"ा इन बारह धातुओं तथा नी, ह्, कृ"ा, और वह धातुओं के कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध होता है वही 'अकथित' है। इस प्रकार परिगणन करना चाहिये।

उदाहरण . (1) दुह्=गां दोग्धि पयः।

- (2) याच्=बलिं याचते वसुधाम्
- (3) पच्.ताण्डुलान् ओदनं पचति
- (4) दण्ड्. गर्गान् 'ातं दण्डयति
- (5) रुध्.व्रजम् अवरुणद्धि गाम्
- (6) प्रच्छ्. माणवकं पन्थानं पृच्छति
- (7) चि.वृक्षम् अवचिनोति फलानि
- (8) ब्रू तथा 'गास्.माणवकं धर्मं ब्रूते 'गास्ति वा
- (9) जि.शतं जयति देवदत्तम्

(10) मथ् . सुधां क्षीरनिधि मथ्नाति

(11) मु"। . देवदत्तं '।तं मु"णाति

(12) नी, ह, कृ"। तथा वह= ग्रामम् अजां नयति, हरति, क"रिति वहति

वा ।

9. गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्ता स णौ 1/4/52//

अर्थ. गति.आदि अर्थवाची, '।ब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं के अप्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्त.अवस्था में 'कर्म' हो जाता है।

उदाहरण.

Øe vFkZ lkekU; vFkZ Ásj.kk vFkZ

¼v.;-UrkoLFkk½ .;UrkoLFkk

1- xR;FkZd ←'k=0% LoxZe~ vxPNu~→
←'k=0%→ 'k=wu~

¼'k=q LoxZ x,½

Østk½

2- cq);FkZd ←Los osnkFkZe~ vfonq% →
←Los → Loku~
tkuk½ ¼gfj us Lotu"a d" osnkFkZ crk;k½

3- Ø{k.kkFkZd ←nsok ve`re~ vk'uu~ →
←nsok%→nsoku~
fYk;k½ ¼gfj us nso"a d" ve`r f[kYkk;k½

4- 'kCnkFkZd ←fof/k% osne~ v;/Sr →
←fof/k%→ fof/ke~
¼gfj us czäk d" osn i<+k;½

5- vdeZd ←i`Foh lfYkY" vkLr → gfj% i`FoE lfYkY" vki;r~
¼i`Foh tYk ij Fkh½ ¼gfj us i`Foh d" tYk ij j[kk½

Á;`T; Ásj.kk vFkZ

drkZ deZ

gfj%'k=wu LoxZe~ vxe;r~

¼gfj us 'k=qv"a d" LoxZ

gfj% Loku~ osnkFkZe~ vosn;r~
¼Lotu"a us osnkFkZ

gfj% nsoku~ ve`re~ vk'k;r~
¼nso"a us ve`r [kk

gfj% fof/k osne~ v;/ki;r~
¼czäk us osn i<+k½

←i`Foh→ i`Fohe~

10. ह्योरन्यतरस्याम् 1/4/53//

अर्थ. 'ह' तथा 'कृ' धातुओं के अप्यन्तावस्था के कर्ता को ण्यन्ता. वस्था में विकल्प से कर्म संज्ञा होती है।

उदाहरण . हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्।

11. अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म 1/4/46//

अर्थ. (अ"टाध्यायी.सूत्रक्रम में इस से पूर्व क्रिया के आधार की अधिकरण.संज्ञा बताई गई है। विशेष"ा अवस्था में आधार की कर्मसंज्ञा होती है। प्रसङ्गवश यहाँ उसी का निर्वचन किया जा रहा है।)

‘अधि’ उपसर्गपूर्वक ‘शी’ ‘स्था’ तथा ‘आस’ धातुओं के आधार की कर्म संज्ञा होती है।

उदाहरण. (1) हरिः वैकुण्ठम् अधिशेते (=हरि वैकुण्ठ में सोते हैं)।

(2) हरिः वैकुण्ठम् अधिति"ठति (=हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)।

(3) हरिः वैकुण्ठम् अध्यास्ते (=हरि वैकुण्ठ में हैं)।

इन तीनों उदाहरणों में क्रिया का आधार ‘वैकुण्ठ’ है। अतः वैकुण्ठ की कर्म.संज्ञा होने के कारण “कर्मणि द्वितीया” (2.3.2) से द्वितीया.विभक्ति हुई।

12. अभिनिविशश्च 1/4/47//

अर्थ. ‘अभिनि’ इस समुदाय के पूर्व में रहने पर विश् धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है।

उदाहरण. अभिनिविशते सन्मार्गम्। (सन्मार्ग पर मन लगाता है)

13. उपान्वध्याङ्वसः 1/4/48//

अर्थ. ‘उप’ आदि पूर्वक ‘वस’ धातु का आधार कर्म होता है।

उदाहरण. उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः।

14. अन्तराऽन्तरेण युक्ते 2/3/4//

अर्थ. 'अन्तरा' तथा 'अन्तरेण' के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। 'अन्तरा' (=मध्य) तथा 'अन्तरेण' (=विना) 'ाब्द 'निपात' (अव्यय) है।

उदाहरण .(1) अन्तरा त्वां मां हरिः (=तुम्हारे और मेरे बीच में हरि है)।

(2) अन्तरेण हरिं न सुखम् (= हरि के बिना सुख नहीं मिलता)

15. कर्मप्रवचनीयाः 1/4/83//

अर्थ. यह सूत्र 'संज्ञा' तथा 'अधिकार' दोनों रूप में कार्य करता है। इसका अधिकार 'विभा' 'ा कृत्रि' (1.4.98) पर्यन्त है। अतः वहाँ तक 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा का प्रभाव रहेगा।

16. अनुर्लक्षणे 1/4/84//

अर्थ.'लक्षण' (हेतु) अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। वह गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है।

17. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया 2/3/8//

अर्थ. कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

उदाहरण. पर्जन्यः जपम् अनु प्रावर्ति। (हेतुस्वरूप जप से वर्णि लक्षित है)। यही इस वाक्य का अर्थ है। "हेतौ" सूत्र से प्राप्त तृतीया विभक्ति यद्यपि यहाँ पर है तथापि इससे वह बाधित हो जाती है। इसका कारण यह है कि "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तः" (1.4.90) सूत्र से लक्षण अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध होती है।

अतः तृतीया के स्थान पर द्वितीया होती है।

18. तृतीयार्थे 1/4/85//

अर्थ. तृतीया का अर्थ द्योत्य रहते 'अनु' कर्मप्रवचनीय होता है।

उदाहरण. 'नदीम्, अन्वव सितासेना' (= सेना नदी के साथ सम्बद्ध है)। यहाँ पर 'अनु' 'ाब्द से सहभाव (साथ होना) द्योतित हो रहा है।

अतः कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उसके योग में 'नदीम्' में द्वितीया विभक्ति हुई।

19. हीने 1/4/86//

अर्थ. हीन अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

उदाहरण. अनु हरिं सुराः (= देव हरि से हीन है)। दो पदार्थों के रहने पर ही 'हीनभाव' प्रकट होता है। इस प्रकार एक निकृ"ट होगा तो दूसरा उसकी अपेक्षा उत्कृ"ट। इन दोनों में से उत्कृ"ट से ही द्वितीया विभक्ति आती है, हीन से नहीं।

20. उपोधिके च 1/4/87//

अर्थ. अधिक्व्य और हीनता अर्थ द्योतित करने पर 'उप' अव्यय की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। आधिक्व्य अर्थ में आगे सप्तमी कहेंगे। हीन अर्थ का उदाहरण . 'उप हरिं सुराः' (= देवगण हरि से हीन है)। हीन अर्थ में 'उप' के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई ।

21. लक्षणैथम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः 1/4/90//

अर्थ. क्रमप्राप्त 'प्रति' 'परि' तथा 'अनु' शब्दों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की जा रही है कि निम्नलिखित इन अर्थों के अभिलक्षित होने पर 'प्रति' आदि कर्मप्रवचनीय संज्ञक होते हैं।

उदाहरण. (1) लक्षण अर्थ. वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् (=वृक्ष की ओर बिजली चमक रही है)। बिजली से प्रकाशित वृक्ष को देखने पर उस ओर बिजली का ज्ञान होने के कारण वृक्ष उसका 'ज्ञापक' है। अतः प्रति, परि, अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'वृक्षम्' में द्वितीया हुई ।

(2) इत्थम्भूताख्यान . भक्तः वि"णुं प्रति परि अनु वा (= भक्त वि"णु की भक्ति से युक्त है)। यहां भक्तिरूप विशेष"विधि को प्राप्त होने से भक्त 'इत्थम्भूत' है। अर्थात् वि"णु और भक्ति का यहाँ वि"णु.वि"णुविभाव है। अतः प्रति, परि, अनु की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने से 'वि"णु' में द्वितीया हुई।

(3) भाग . लक्ष्मीः हरिं प्रति परि अनु वा (= लक्ष्मी हरि का हिस्सा है)। यहाँ लक्ष्मीरूप भाग का हरि से साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। भाग अर्थ में प्रति आदि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने के फलस्वरूप 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई।

(4) वीप्सा . वृक्षं वृक्षंप्रति परि अनु वा सिञ्चति (= प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)। वीप्सा में शब्द को द्वित्व हो जाता है। यहाँ पर प्रति इत्यादि अव्ययों से अभिव्याप्ति सूचित होती है। अतः इन की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई। वृक्ष सेचन क्रिया का कर्म है, अतः उससे द्वितीया विभक्ति स्वतः सिद्ध है।

22. अभिरभागे 1/4/91//

अर्थ. भाग अर्थ को छोड़कर 'े' लक्षणादि अर्थों में 'अभि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है।

उदाहरण. (1) लक्षण. 'हरिम् अभि वर्तते' (= हरि की ओर है)। यहाँ हरि की अनुकूलता ही जय (लक्ष्य) का ज्ञापक (लक्षण) है। अतः 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई ।

(2) इत्यम्भूताख्यान . 'भक्तः हरिम् अभि' (=भक्त हरि की भक्ति से युक्त है)। भक्त का प्रकार बतलाया गया है।

(3) वीप्सा . 'देवं देवम् अभिसिञ्चति' (=प्रत्येक देव को स्नान कराता है)। सब के साथ सेचन.सम्बन्ध इच्छा के कारण 'वीप्सा' है।

23. अधिपरी अनर्थकौ 1/4/93//

अर्थ. (निरर्थक 'अधि' तथा 'परि') उक्त संज्ञक होते हैं।

उदाहरण. (1) कुतोऽध्यागच्छति (कहाँ से आता है)।

(2) कृतः पर्यागच्छति (=कहाँ से आता है)। इन दोनों उदाहरणों में 'अध्यागच्छति' (=आता है) तथा पर्यागच्छति (=आता है) का अर्थ समान है। 'अधि' तथा 'परि' के संयोग से 'आगच्छति' के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः ये दानों

(‘अधि’ तथा ‘परि’) अनर्थक है। ‘कर्मप्रवचनीय’ संज्ञा होने से ‘उपसर्ग’ एवं ‘गति’ संज्ञा का बाध हो गया।

24. सुः पूजायाम् 1/4/94//

अर्थ. पूजार्थक (प्रशंसा अर्थ) ‘सु’ शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

उदाहरण. (1) ‘सुसिक्तम्’ (= अच्छी तरह सींचा है)।

(2) सुस्तुतम्’ (= अच्छी स्तुति की है ।

25. अतिरतिक्रमणे च 1/4/95//

अर्थ. अतिक्रमणार्थक एवं पूजार्थक ‘अति’ कर्मप्रवचनीय होता है।

उदाहरण. अति देवान् कृणः (=कृण दोनों से बढ़कर है)। प्रकृत वाक्य में अतिक्रमण (बढ़कर) तथा पूजा (प्रशंसा) अभिलक्षित होने से कर्मप्रवचनीय ‘अति’ के योग में ‘देवान्’ में द्वितीया विभक्ति हुई ।

26. अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेऽपि 1/4/96//

अर्थ. कुछ विशेषार्थ अर्थों को अभिलक्षित कर ‘अपि’ शब्द को ‘कर्मप्रवचनीय’ संज्ञा होने के सम्बन्ध में निर्देश दिए जा रहे हैं। (1) पदार्थ, (2) सम्भावन, (3) अन्ववसर्ग, (4) गर्हा तथा (5) समुच्चय . इन पाँच अर्थों के द्योतक ‘अपि’ शब्द की ‘कर्मप्रवचनीय’ संज्ञा होती है।

उदाहरण. (1) पदार्थ . ‘सर्पिणाः अपि स्यात्’ (= थोड़ा सा घी भी चाहिये)।

प्रकृत वाक्य में ‘सर्पिणाः’ पद का अर्थ सापेक्ष है अर्थात् वह ‘बूँद’ (बिन्दू) की अपेक्षा रखता है।

(2) सम्भावन= ‘अपि स्तुयाद् विष्णुम्’ (= क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा’ अर्थात् विष्णु की स्तुति करना असम्भव है)। यहाँ ‘सम्भावन’ अर्थ को द्योतित करने से ‘अपि’ की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई ।

(3) अन्ववसर्ग = ‘अपि स्तुहि’ (=स्तुति करो या न करो जैसी तुम्हारी इच्छा)।

(4) गर्हा= 'धिक् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्' (=देवदत्त को धिक्कार है जो वह वृषल की स्तुति करता है)।

(5) समुच्चय = 'अपि सिञ्च, अपि स्तुहि' (=सींचो भी और स्तुति भी करो)।

27. कालाध्वनारत्यन्तसंयोगे 2/3/5//

अर्थ. कालवाचक और मार्गवाचक शब्दों से यहाँ अत्यन्त संयोग में अर्थात् अविच्छिन्न (लगातार) संयोग में द्वितीया विभक्ति होती है। 'काल' और 'अध्वन' का यह अविच्छिन्न संयोग गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीनों से होता है। अतः इनमें प्रत्येक के तीन-तीन उदाहरण होंगे।

उदाहरण .(क)कालवाची 'ाब्द

(1) मासं कल्याणी (=मासपर्यन्त 'ुभकारी है)। प्रकृत वाक्य में कालवाची 'मास' 'ाब्द का 'गुण' (कल्याणी) के साथ अत्यन्त संयोग से होने से द्वितीया हुई।

(2) मासम् अधीते (=पूरे महीने भर पढ़ता है)। कालवाची 'ाब्द का क्रिया के साथ नैरन्तर्य होने से द्वितीया हुई।

(3) मासं गुडधानाः (=महीने भर गुड़मिश्रित धान्य खाता है)। कालवाची 'ाब्द का द्रव्य के साथ अत्यन्त संयोग होने से द्वितीया विभक्ति हुई।

(ख) मार्गवाची 'ाब्द . (1) क्रोशं कुटिला नदी (कोस भर नदी टेढ़ी है)। मार्गवाची (क्रोश) 'ाब्द के साथ गुण (कुटिल) का अत्यन्त संयोग होने से द्वितीया विभक्ति।

(2) क्रोशम् अधीते (=कोस भर पढ़ता है)। यहाँ मार्गवाची 'ाब्द का क्रिया के साथ अत्यन्त संयोग है, अतः द्वितीया हुई।

(3) क्रोशं गिरिः (= कोस भर पहाड़ है)। मार्गवाची (क्रोश) 'ाब्द का द्रव्य (गिरि) के साथ नैरन्तर्य होने से द्वितीया विभक्ति हुई।

1.4.1. उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास

उदाहरण वाक्य .

1. विष्णुं यजति वैष्णवः ।
2. दिनेशः पत्रं लिखति ।
3. भगिनी पादरक्षाम् आनयति ।
4. गुरुः वेदान् जानाति ।
5. बालिका मालां रचयति ।
6. बालकाः फलानि खादन्ति ।
7. अहं दुर्गां पूजयामि ।
8. त्वं ग्रामं गच्छ ।
9. स आसनम् अधितिष्ठति ।
10. ग्रामम् उभयतः जलम् अस्ति ।
11. कविः काव्यानि करोति ।
12. गुरुः ग्रन्थान् पठति ।

अभ्यास .

1. माता करोति । (पाकः)
2. पितामहः पूजयति । (देवाः)
3. बालकः क्रीणाति । (लेखनी)
4. परितः पिपीलिकाः सन्ति । (शर्करा)
5. बालकः जानाति । (सः)
6. छात्रः पृच्छति । (प्रश्नाः)

1.5 करण कारक (तृतीया विभक्ति)

28. स्वतन्त्रः कर्ता 1/4/54//

अर्थ. क्रिया करने में जिसकी स्वतन्त्रता मानी जाय, वह कर्ता कारक होता है।

29. साधकतमं करणम् 1/4/42//

अर्थ. क्रिया की सिद्धि में जो सबसे अधिक उपकारक (साधकतमं) होता है उसे 'करण' कारक कहते हैं। जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की निपत्ति विवक्षित होती है उसे 'करण' माना जाता है।

उदाहरण. 'कृषकः' दात्रेण लुनाति . यहाँ काटने की क्रिया में सर्वाधिक उपकारक दात्र है, अतः तृतीया विभक्ति है।

30. कर्तृकरणयोस्तृतीया 2/3/18//

अर्थ. अनुक्त कर्ता ओर करण में तृतीया होती है। जैसे . रामेण बाणेन हतः बाली। (=राम के द्वारा बाली बाण से मारा गया।) यहाँ कर्म उक्त है तथा कर्ता अनुक्त। अनुक्त कर्ता होने से 'रामेण' में तृतीया विभक्ति हुई।

31. दिवः कर्म च 1/4/43//

अर्थ. 'दिव' धातु के साधकतम कारक की 'कर्म' और 'करण' दोनों संज्ञाएँ होती हैं।

उदाहरण. (1) अक्षान् दीव्यति (कर्म में द्वितीया)

(2) अक्षैः दीव्यति (करण में तृतीया)

32. अपवर्गे तृतीया 2/3/6//

अर्थ. अपवर्ग का अर्थ है फलप्राप्ति। उसे बताने के लिये काल और मार्गवाचक शब्दों के अत्यन्त संयोग में तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण. (1) कालवाची का उदाहरण . अह्वा अनुवाकः अधीतः (= एक दिन में अनुवाक पढ़ लिया)। इसका तात्पर्य यह है कि अनुवाक पढ़ने के साथ वह याद भी हो गया। याद हो जाने से फलप्राप्ति हो गई, अतः 'अह्वा' में तृतीया विभक्ति हुई।

(2) मार्गवाचक का उदाहरण . क्रोशेन अनुवाकः अधीतः (= एक कोसभर में अनुवाद पढ़ लिया)। यहाँ भी 'याद होना' फलप्राप्ति है। अतः तृतीया विभक्ति हुई।

(3) 'मासम् अधीतो न आयातः' (= एक महीने भर पढ़ा किन्तु समझ में नहीं आया)। यहाँ फल प्राप्ति नहीं होने के कारण 'मासम्' यह द्वितीया विभक्ति हुई तृतीया नहीं।

33. सहयुक्तेऽप्रधाने 2/3/19//

अर्थ. 'सहार्थक' शब्दों के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण. पुत्रेण सहः आगतः पिता। इसी प्रकार साकं, सार्धं तथा समं के योग में भी (अप्रधान में तृतीया होती है) इनका योग न होने पर भी तृतीया विभक्ति होती है। इस वि०य में पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'वृद्धो यूना.' इत्यादि उदाहरण प्रमाण है।

34. येनाङ्गविकारः 2/3/20//

अर्थ. जिस अङ्ग के विकार से व्यक्ति (अङ्गी) विकृत दिखाई पड़ता है, उस 'अङ्ग' में तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण. अक्षणा काणः। (अर्थात् आँख सम्बन्धी विकार से युक्त है।)

35. इत्थंभूतलक्षणे 2/3/21//

अर्थ. किसी विशेष विधा को प्राप्त किये हुए लक्षण (ज्ञापक) से तृतीया विभक्ति होती है।

उदाहरण. जटाभिः तापसः। यहाँ जटाओं से तपस्विता का बोध होता है।

36. सञ्जोऽन्यतरस्यां कर्मणि 2/3/22//

अर्थ. विशेष"1 अवस्था में 'तृतीया' विभक्ति की समीचीनता प्रमाणित की जा रही है। तदनुसार "'सम्' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु के अनभिहित कर्म कारक में विकल्प से (अन्यतरस्यां) तृतीया विभक्ति होती है।" पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया होगी।

उदाहरण. पित्रा पितरं वा संजानीते (= पिता को अच्छी तरह पहचानता है)

37. हेतौ 2/2/23//

अर्थ. कारण (हेतु) अर्थ में तृतीया होती है। हेतु द्रव्यादि का साधक होता है तथा सव्यापार (क्रियायुक्त) और निर्व्यापार (क्रियारहित) दोनों प्रकार का होता है। करणत्व केवल क्रिया का जनक होता है एवं सदा व्यापारयुक्त में ही रहता है।

उदाहरण. (1) दण्डेन घटः ।

(2) पुण्येन दृ"टः हरिः। (इसके अतिरिक्त) यहाँ फल भी हेतु माना गया है।

(3) अध्ययनेन वसति। अर्थ द्वारा प्रतीत होने वाली क्रिया (गम्यमाना) भी कारक. विभक्ति का हेतु होती है।

(4) अलंश्रमेण। अर्थात् . परिश्रम से साध्य नहीं है। यहाँ साधन.क्रिया के प्रति श्रम करण है, अतः उससे तृतीया हुई ।

(5) 'शतेन 'ातेन वत्सान् पाययति' का अर्थ. सौ.सौ में बॉटकर जल पिलाता है। यहां 'बॉटकर' क्रिया का 'शत' करण है, अतः उससे तृतीया हुई है।

1.5.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास

उदाहरण वाक्य .

1. रमेशः दण्डेन शुनकं ताडयति ।
2. छात्रः द्विचक्रिकया विद्यालयं गच्छति ।
3. लक्ष्मणः रामेण सह वनं गच्छति ।

4. उपनेत्रेण विना वृद्धः दृष्टुं न शक्नोति ।
5. रावणः क्रोधेन रामं पश्यति ।
6. कृषकः परिश्रमेण कार्यं करोति ।
7. आपणिकः तुलया तोलयति ।
8. रामेण सह सीता प्रयाणं करोति ।
9. कया सह भवती वार्तां करोति ?
10. मित्र ! अलं चिन्तया ।

अभ्यास .

1. विना अहं न गच्छामि । (भवती)
2. सह माता गच्छति । (पुत्रः)
3. भक्तः गायति । (आनन्दः)
4. बालिका लिखति । (लेखनी)
5. दुष्ट ! अलं । (विवादः)

1.6 सारांश .

इस इकाई की प्रस्तावना में आपने कारक एवं विभक्ति के सम्प्रत्यय को समझा तथा षड् कारकों व सातों विभक्तियों के संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् कर्ता, कर्म एवं करण कारक तदनुसार प्रथमा, द्वितीया एवं तृतीया विभक्ति को सूत्र उदाहरण एवं अभ्यास के माध्यम से समझा है।

1.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें .

1. वैयाकरण सिद्धांत कौमुदी . श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित
2. कारक प्रकरण (सिद्धान्त कौमुदी) श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित

1.8 स्वपरख पश्न .

1. सत्रों की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये .
 - क. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।
 - ख. तथायुक्तं चानीप्सितम् ।
 - ग. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।
 - घ. साधकतमं करणम् ।
 - ड. सहयुक्तेऽप्रधाने ।
2. 'जटाभिस्तापसः' इस प्रयोग को समझाइये ।
3. 'हरिः सेव्यते' इस प्रयोग को समझाइये ।
4. 'कारक' को समझाइये ।

इकाई 2

कारक एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण

(चतुर्थी से सप्तमी विभक्ति तक)

इकाई की रूपरेखा

- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 प्रस्तावना
- 2.3 सम्प्रदानकारक (चतुर्थी विभक्ति)
 - 2.3.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास
- 2.4 अपादानकारक (पञ्चमी विभक्ति)
 - 2.4.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास
- 2.5 सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति)
 - 2.5.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास
- 2.6 अधिकरणकारक (सप्तमी विभक्ति)
 - 2.6.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास
- 2.7 सारांश
- 2.8 उपयोगी पुस्तकों की सूची
- 2.9 स्वपरख पश्न

2.1 उद्देश्य

1. सम्प्रदान कारक एवं चतुर्थी विभक्ति के सूत्रों एवं प्रयोगों को समझना ।
 2. अपादान कारक एवं पञ्मी विभक्ति के सूत्रों एवं प्रयोगों को समझना ।
 3. षष्ठी विभक्ति के सूत्रों एवं प्रयोगों को समझना ।
 4. अधिकरण कारक एवं सप्तमी विभक्ति के सूत्रों व प्रयोगों को समझना ।
5. संस्कृत वाक्य रचना को समझना ।

2.2 प्रस्तावना

प्रथम इकाई की प्रस्तावना में हम विस्तार से 'कारक' के सम्प्रत्यय को समझ चुके हैं। गत इकाई में कर्ता, कर्म और करण कारक का विवेचन किया जा चुका है। इसी क्रम में आगे सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारक तथा षष्ठी विभक्ति को जानने का प्रसंग उपस्थित होता है अतः इस इकाई में उपर्युक्त कारकों का विस्तृत विवेचन किया जाएगा।

2.3 सम्प्रदान कारक (चतुर्थी विभक्ति)

38. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् 1/4/32//

अर्थ . दान के कर्म से जिसका अभिप्राय सिद्ध किया जाय वह सम्प्रदान कारक होता है। 'अभिप्रेति' पद का अर्थ होता है. 'प्रकृतिरूप से किसी के अभिमुख जाना'। 'देय वस्तु के द्वारा दानक्रिया की सिद्धि के लिये विशेषरूप से किसी के प्रति अभिमुख होने पर' ही यह सम्भव होगा। 'दानक्रिया के कर्म द्वारा जिसका अभिप्राय सिद्ध किया जाय (जिसको लक्षित किया जाय) वह कारक सम्प्रदानसंज्ञक होता है।'

39. चतुर्थी सम्प्रदाने 2/3/13//

अर्थ . 'सम्प्रदान' में चतुर्थी होती है।

उदाहरण.(1) 'विप्राय गां ददाति।' अनुक्त होने पर ही चतुर्थी होती है।
अतः'दीयते अस्मै दानीयः विप्रः' इस वाक्य में नहीं हुई है।

(2)क्रिया के द्वारा जिसकी ओर अभिमुख हुआ जाय, वह भी 'सम्प्रदान' कारक होता है।

(3)'पशुना रुद्रं यजते'। (रुद्र के लिये पशु देता है।) 'यज्' धातु के कर्म की 'करण' संज्ञा तथा सम्प्रदान को 'कर्म' संज्ञा होती है।

40. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः 1/4/33//

अर्थ . 'रुचि' अर्थात् अभिलाषार्थक (रुचिः अर्थः येषां ते रुच्यर्थाः, तेषाम्) धातुओं के प्रयोग में प्रसन्न होने वाला व्यक्ति (प्रीयमाणः) 'सम्प्रदान' कारक होता है।

उदाहरण . हरये रोचते भक्तिः (=हरि को भक्ति अच्छी लगती है।) यहाँ 'रुचि' का अर्थ इच्छा है। किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न की हुई इच्छा (अभिलाषा) 'रुचि' है। यहाँ पर 'भक्ति' ही हरि की प्रसन्नता या रुचि को उत्पन्न करती है एवं भक्ति से प्रसन्न होने वाले (प्रीयमाण) हरि है। अतः 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई . 'हरये' ।

41. 'लाघहनुड्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः 1/4/34//

अर्थ . विशेषरूप से स्थिति में 'सम्प्रदान' संज्ञा के सूचक दूसरे सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'लाघ' (प्रशंसा करना), 'ह्व' (छिपाना), 'स्था' (ठहरना) और 'ाप' (शपथ लेना) इन चार धातुओं के प्रयोग में जिसे बताना अभीष्ट (ज्ञीप्स्यमानः) हो, उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. (1) गोपी स्मरात् कृणाय 'लाघते (= गोपी वासनावश कृण की प्रशंसा करती है)।

- (2) गोपी स्मरात् कृ॑णाय ह्रुते (= गोपी कामवश कृ॑ण को छिपाती है)।
- (3) गोपी स्मरात् कृ॑णाय ति॑ठते (= गोपी वासनावश कृ॑ण की प्रतीक्षा करती है)।
- (4) गोपी स्मरात् कृ॑णाय ँपते (= गोपी कामवश कृ॑ण को उलाहना देती है)। इन चारों उदाहरणों में उपर्युक्त धातुओं के योग में 'झीप्स्यमान' (कृ॑ण) की 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से 'कृ॑णाय' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

42. धारेरुत्तमर्णः 1/4/35//

अर्थ . णिच्.प्रत्ययान्त 'धृ' धातु के प्रयोग में ऋणदाता (उत्तमर्णः. ऋणे उत्तमः, निपातन से 'ऋण' ँब्द की परत्र स्थिति) की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः (= हरि भक्त के लिये मोक्ष धारण करते हैं)। इस वाक्य में 'धारि' (धृ+णिच्=ऋण धारण करना) का प्रयोग है। उत्तमर्ण अर्थात् 'भक्त' की 'सम्प्रदान' संज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई। भक्त के द्वारा हरि की पूजा में दी जाने वाली सामग्री ही ऋणस्वरूप है। अतः भक्त महाजन (उत्तमर्ण) है। यह भा०ठी का अपवाद है।

43. स्पृहेरीप्सितः 1/4/36//

अर्थ . (स्वार्थ.णिजन्त) स्पृह धातु के योग में ईप्सित (इ॑ट) वस्तु 'सम्प्रदान' संज्ञक होती है।

उदाहरण. पु॑पेभ्यः स्पृहयति। (फूलों को चाहता है)। यहाँ स्पृहा (इच्छा) का वि॑ण्य पुष्प है। अतः पु॑प की 'सम्प्रदान' संज्ञा होने पर चतुर्थी विभक्ति हुई। 'ईप्सित' पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होने के फलस्वरूप 'पु॑पेभ्यः वने स्पृहयति' (=वन में फूलों को चाहता है)। यहाँ पर 'वने' 'सम्प्रदान' संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि इच्छा का वि॑ण्य 'वन' नहीं है। 'अधिकरण' होने से सप्तमी विभक्ति संयुक्त हुई। 'ईप्सिततम' अर्थ में तो 'पर' होने के कारण 'कर्म' संज्ञा ही होगी . पु॑पाणि स्पृहयति।

44. क्रुधद्गुहे॑र्यासूयार्थानां यं प्रति कोऽ 1/4/37//

अर्थ . 'क्रुध' क्रोध करना, 'द्रुह' (द्रोह करना), ईर्य (ईर्या करना) तथा असूय (गुणों में दोष ढूँढना) धातुओं तथा तदर्थक धातुओं के प्रयोग में जिस पर क्रोध किया जाय, उस कारक की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. (1) हरये क्रुध्यति (=हरि पर क्रोध करता है)।

(2) हरये द्रुह्यति (=हरि से द्रोह करता है)।

(3) हरये ईर्यति (= हरि से ईर्या करता है)।

(4) हरये असूयति (= हरि के गुणों में दोष निकालता है)

इन चारों उदाहरणों में क्रोध का पात्र 'हरि' है। अतः 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होने से 'चतुर्थी' विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

45. क्रुधद्रुहोरुपसृट्योः कर्म 1/4/38//

अर्थ . उपसर्गसहित क्रुध और द्रुह धातुओं के प्रयोग करने पर जिसके प्रति क्रोध किया जाय, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। यह 'सम्प्रदान' संज्ञा का अपवाद है।

उदाहरण. क्रूरम् अभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति वा (=क्रूर पर क्रोध या द्रोह करता है)। इन दोनों वाक्यों में क्रोध के आलम्बन 'क्रूर' की 'कर्म' संज्ञा होती है। अतः द्वितीया विभक्ति हुई।

46. राधीक्षोर्यस्य विप्रश्नः 1/4/39//

अर्थ. 'राध्' और 'ईक्ष्' धातुओं के योग में, जिसके विनाय में 'पुभाशुभ' विनायक प्रश्न होता है, उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. कृणाय राध्यति ईक्षते वा। (पूछे जाने पर गर्ग कृण के 'पुभाशुभ' का विचार करते हैं।)

47. प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता 1/4/40//

अर्थ . 'प्रति' तथा 'आङ्' से पर 'श्रु' धातु के योग में पूर्व प्रेरणारूप व्यापार (क्रिया) के कर्ता की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा। अर्थात् विप्र (ब्राह्मण) के द्वारा 'मुझे दो' इस तरह प्रेरणा प्राप्त करने पर दान देने वाला व्यक्ति अपनी स्वीकृति देता है।

48. अनुप्रतिगृणश्च 1/4/41//

अर्थ . 'अनु' तथा 'गति' उपसर्ग पूर्वक गृ धातु के योग में पूर्व व्यापार (क्रिया) के कर्ता की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. होत्र अनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा। इसका यह अभिप्राय है कि 'प्रथम होता मंत्र पढ़ता है, तदनन्तर अध्वर्यु उसे प्रोत्साहित करता है।

49. परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यरस्याम् 1/4/44//

अर्थ . 'परिक्रयण' अर्थ में साधकतम कारक की विकल्प से 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है। निश्चित काल के लिये किसी को वेतन या मजदूरी पर रखना 'परिक्रयण' है।

उदाहरण. (1) 'तेन, 'ताय वा परिक्रीतः।

(2) 'प्रयोजन के लिये' .इस अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है। मुक्तये हरि भजति।

(3) 'क्लृप्' धातु के प्रयोग में उत्पद्यमान अर्थ में वर्तमान 'ाब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। भक्तिः ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यते, जायते इत्यादि।

(4) उत्पात जिसे सूचित करता हो उससे चतुर्थी होती है। वाताय कपिल विद्युत।

(5) 'हित' 'ाब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। ब्राह्मणाय हितम् ।

50. क्रियार्थेपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः 2/3/14//

अर्थ . क्रियार्थक.क्रिया उपपद हो किन्तु तद्वाचक 'तुमुन्' प्रत्ययान्त प्रयोग न किया गया हो, उसके कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदाहरण. (1) 'फलेभ्यः याति' .(वह फल लाने के लिये जाता है।)

(2) 'नमस्कूर्मः नृसिंहाय' (नृसिंह को अनुकूल करने के लिये नमस्कार करते हैं।) इसी तरह 'स्वयंभुवे नमस्कृत्य' इत्यादि प्रयोग भी जाने जायँ।

51. तुमर्थाच्च भाववचनात् 2/3/15//

अर्थ . "भाववचनाश्च" सूत्र से जो 'घञ्' प्रत्यय होता है, तदन्त 'ाब्द से 'चतुर्थी' होती है।

उदाहरण. 'यागाय याति'। (याग करने के लिये जाता है।)

52. नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंव"ाड्योगाच्च 2/3/16//

अर्थ . “नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा व॥ाट् इन छः अव्ययों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है।” तात्पर्य यह है कि जो 'ाब्द इन अव्ययों के साथ आयेंगे उनसे चतुर्थी विभक्ति होगी।

उदाहरण. (1) हरये नमः (=हरि को नमस्कार है)।

(2) प्रजाभ्यः स्वस्ति (=प्रजा का कल्याण हो)।

(3) अग्नये स्वाहा (=अग्नि को आहुति है)

(4) पितृभ्यः स्वधा (=पितरों के लिये अन्नादि पदार्थ है)।

(5) दैत्येभ्यः हरिः अलम् (=दैत्यों को मारने के लिये हरि समर्थ है)

(6) इन्द्राय व॥ाट् (=इन्द्र को हविर्दान)।

उपपद.विभक्ति से कारक.विभक्ति के प्रबल होने से 'नमस्करोति देवान्' (=देवों को नमस्कार करता है)। इस वाक्य में 'नमः' के कारण चतुर्थी प्राप्त है और 'नमस्करोति' क्रिया के कारण 'देवान्' में द्वितीया प्राप्त होती है। 'कारक.विभक्ति' के प्रबल होने से द्वितीया हुई।

53. मन्यकर्मण्यनादरे विभा॥ाऽप्राणि॥ु 2/3/17//

अर्थ . अनादर गम्यमान होने पर 'दिवादिगण' पठित मन् धातु से प्राणिवर्जित अनाभिहित कर्म में विकल्प से 'चतुर्थी' विभक्ति होती है। जैसे. न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। सूत्र में 'श्यन्' का निर्देश होने से 'तनादिगण' पठित मन् धातु के साथ चतुर्थी नहीं होती। अतः द्वितीया होगी।

उदाहरण. न त्वां तृणं मन्वेऽहम्। सूत्रस्थ 'अप्राणि॥ु' पद को हटाकर नौ, काक, अन्न, 'ुक, शृगाल 'ाब्दों से भिन्न कहना चाहिये। तब तो प्राणिभिन्न होने पर भी ' न त्वां नावं मन्ये' में चतुर्थी नहीं होती तथा प्राणिवाचक होने पर भी 'न त्वां 'ुने मन्ये' में चतुर्थी होती है।

54. गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यो चे॥टायामनध्वनि 2/3/12//

अर्थ . यदि गति में चे॥टा हो तो गत्यर्थक धातुओं के मार्गरहित कर्म में द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियां होती है।

उदाहरण. (1) ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। (गांव को जाता है।) यहाँ 'गम्' धातु का प्रयोग है, उसका कर्म ग्राम है। वह मार्गवाची शब्द से भिन्न है। 'गति' (क्रिया) में शारीरिक चेष्टा भी हैं। अतः द्वितीया (ग्रामम्) तथा चतुर्थी (ग्रामाय) दोनों हुई।

- (2) 'मनसा हरिं व्रजति' (मन से हरि के पास जाता है।) इस वाक्य में चतुर्थी नहीं हुई क्योंकि मानसिक क्रिया में बाह्य चेष्टा नहीं होती। सूत्रस्थ 'चेष्टायां' पद का यही प्रयोजन है।
- (3) मार्गवाची शब्द (अनध्वनि) कर्म के रूप में ग्रहण न किये जाने के फलस्वरूप 'पन्थानं गच्छति'.(रास्ता चलता है) में 'पथिन्' शब्द से चतुर्थी नहीं हुई, क्योंकि यहाँ गत्यर्थक धातु 'गम्' का कर्म 'पथिन्' (मार्ग) ही है जबकि 'उत्पथेन पथे गच्छति' (बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर आता है) यहाँ चतुर्थी का निषेध नहीं हुआ। कारण यह है कि व्यक्ति विशेष अभी अच्छे मार्ग पर आया नहीं है किन्तु आने की चेष्टा कर रहा है।

2.3.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास

उदाहरण वाक्य .

1. बलिः वामनाय भूमिं दत्तवान् ।
2. पिता कस्मै धनं दत्तवान् ।
3. माता बालिकायै मोदकं ददाति ।
4. गृहिणी भिक्षुकेभ्यः नाणकानि ददाति ।
5. गणेशाय मोदकं रोचते ।
6. शिवाय नमः ।
7. रामः रावणाय क्रुध्यति ।
8. कंसः कृष्णाय द्रुह्यति ।
9. गुरुणाम् उपदेशस्य श्रवणं हिताय भवति ।
10. दुर्गायै नमः ।
11. संस्कृतं कस्मै न रोचते ?
12. चर्चा विवादाय मा भवतु ।

अभ्यास .

1. कृष्णभक्ताः नमः इति वदन्ति । (कृष्णः)
2. दुर्व्यसनं कदापि न भवति । (सुखम्)
3. दुष्टः ईर्ष्यति । (सज्जनः)

4. मधुरं रोचते । (सः)

5. माता दुग्धं ददाति । (बालकः)

2.4 अपादान कारक (पञ्चमी विभक्ति)

55. ध्रुवमपायेऽपादानम् 1/4/24//

अर्थ . पृथक् होना, 'अपाय' है। विश्लेषण (पार्थक्य) साध्य होने पर ध्रुव या अवधिभूत कारक को 'अपादान' कहते हैं।

56. अपादाने पञ्चमी 2/3/28//

अर्थ . अपादान में पञ्चमी होती है।

उदाहरण. (1) ग्रामात् आयति। =गाँव से आता है। कहाँ से आता है.इस प्रकार आकांक्षा का विनायक ग्राम है। वह आने वाले का अवधिरूप है। अतः अपादान कारक हुआ। इस हेतु 'अपादान' में 'पञ्चमी' हुई।

(2) धावतः अश्वात् पतति (=दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है)। यहाँ पर घोड़ा पतन.क्रिया की अवधि है, अतः 'अश्वात्' में पञ्चमी है।

इसके अतिरिक्त निन्दा, विराम तथा प्रमादार्थक धातुओं के कारक की भी 'अपादान संज्ञा होती है।

(1) पापात् जुगुप्सते, विरमति वा (पाप से घृणा करता है, पाप करने से रुकता है)

(2) धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है)

57. भीत्रार्थानां भयहेतुः 1/4/25//

अर्थ . इन दोनों पदों का लाभ अनुवृत्ति द्वारा होता है। तदनुसार सूत्र से यह अभिव्यञ्जित होता है कि 'भयार्थक और रक्षार्थक धातुओं के प्रयोग में भय का हेतुरूप कारक 'अपादान' संज्ञक हो'।

उदाहरण. (1) चोराद् बिभेति (=चोर से डरता है)

(2) चोरात् त्रायते (=चोर से बचाता है)। इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'भय' और 'रक्षा' हेतु 'चोर' की 'अपादान' संज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति हुई। सूत्र द्वारा 'भयहेतु' की अपादान संज्ञा किये जाने के फलस्वरूप 'अरण्ये विभेति त्रायते वा' (जंगल में डरता है या रक्षा करता है) इन उदाहरणों में 'अरण्य' भय का कारण न होने से, उसकी अपादानसंज्ञा नहीं हुई। यदि अरण्य को ही भय का कारण माना जाय

तो 'अरण्याद् बिभेति' (जंगल से डरता है) यह प्रयोग भी समीचीन होगा।

58. पराजेरसोढः 1/4/26//

अर्थ . 'परा' पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग में जो सहन न किया जा सके, उस कारक की 'अपादान' संज्ञा होती है।" फलतः पञ्चमी विभक्ति होगी। इस प्रकार यह 'हेतु' तृतीया का अपवाद है। उदाहरण. अध्ययनात् पराजयते (=पढ़ाई से भागता है अर्थात् पढ़ाई के श्रम को सहन नहीं कर सकता)। यहाँ 'असह्य' से तात्पर्य 'अध्ययन' है, अतः पञ्चमी विभक्ति हुई।

59. वारणार्थानामीप्सितः 1/4/27//

अर्थ . वारणार्थक धातुओं के योग में 'इ"ट' (ईप्सित) (कारक) की 'अपादान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. यवेभ्यः गां वारयति (= जौ से गाय को हटाता है)। यहाँ 'यव' इप्सित है। उसकी 'अपादान' संज्ञा हुई, अतः पञ्चमी. 'यवेभ्यः'। 'गाय' दूसरे की होने के कारण 'ईप्सित' नहीं है। वह हटायी जाती है, अतः अनीप्सित है। इसके फलस्वरूप "तथायुक्तं चानीप्सितम्" (1.4.50) से 'कर्म' संज्ञा होने के कारण द्वितीया हुई. 'गाम्' ।

60. अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति 1/4/28//

अर्थ . 'छिपाना' अर्थ में जिससे अपने आप को छिपाना चाहता है, उसको 'अपादान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. मातुः निलीयते कृ"णः। 'कृष्ण माता से छिपता है' यहाँ कृष्ण माता से छिपने का इच्छुक है अतः 'मातृ' शब्द की अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति हुई। यदि सूत्र में 'अन्तर्धौ' पद न होता तो व्यवधान अथवा ओट के न होने पर केवल छिपाना मात्र अर्थ में भी 'अपादान' संज्ञा हो जाती। अतः 'चौरान न दिदृक्षते'. 'चोरों को नहीं देखना चाहता।' में व्यवधान अर्थ न होने से 'अपादान' संज्ञा नहीं हुई।

61. आख्यातोपयोगे 1/4/29//

अर्थ . नियमपूर्वक विद्याध्ययन करने में 'पढ़ाने वाले' की 'अपादान' संज्ञा होती है।

उदाहरण. उपाध्यायात् अधीते (=गुरु से पढ़ रहा है)। 'अपादान' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'उपाध्याय' में 'पञ्चमी' विभक्ति हुई 'उपाध्यायात्'। सत्र में

‘उपयोगे’ (नियमपूर्वक गुरुमुख से अध्ययन करने में) पद न रखने पर ‘नटस्य (गाथां) शृणोति’ (=नट का ‘गीत’ सुनता है) में ‘नट’ की अपादान संज्ञा होने लगती है। कारण यह है कि वक्ता ‘नट’ है। ‘उपयोगे’ पद का समावेश करने से ‘नट’ की उपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि श्रोता ‘नट’ से नियमपूर्वक अध्ययन करने के रूप में ‘गीत’ नहीं सुन रहा है।

62. जनिकर्तुः प्रकृतिः 1/4/30//

अर्थ . उत्पत्ति का आश्रय ‘अपादान’ संज्ञक होता है।

उदाहरण. ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते। ‘जन्’ धातु के कर्ता (जनेः कर्ता, तस्य, जनिकर्तुः) के हेतुरूप कारक की ‘अपादान’ संज्ञा होती है।

63. भुवः प्रभवः 1/4/31//

अर्थ . ‘भू’ का अर्थ प्रकट होना है। प्रकट होने के कर्ता का मूल स्थल ‘अपादान’ कारक होता है।

उदाहरण. हिमवतः गङ्गा प्रभवति। इसका अर्थ है कि गंगा वहाँ से प्रादूर्भूत होती है।

64. अन्यारादितरर्तेदिवशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते 2/3/29//

अर्थ . ‘अन्य’, ‘आरात्’, ‘इतर’, ‘ऋते’, ‘दिवशब्द’, ‘अञ्च’ उत्तर. पद, ‘आच्’ प्रत्ययान्त तथा आहि प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण. (1) अन्यार्थक शब्द. अन्यः, भिन्नः, इतरः, वा कृष्णात् (कृष्ण से भिन्न)।

(2) आरात् वनात् (वन से दूर या समीप)।

(3) ऋते कृष्णात् (कृष्ण के बिना)।

(4) पूर्वः ग्रामात् (गाँव से पूर्व की ओर)।

(5) ‘अञ्च’ उत्तरपद के योग में पञ्चमी. प्राक् प्रत्येक् वा ग्रामात् (गाँव से पूर्व या पश्चिम)

(6) आच् प्रत्ययान्त. दक्षिणा ग्रामात् (गाँव से दक्षिण की ओर)

(7) आहि प्रत्ययान्त. दक्षिणाहि ग्रामात् (गाँव से दूर दक्षिण की ओर)

65. अपपरी वर्जने 1/4/88//

अर्थ . 'अप' और 'परि' ये दोनों अव्यय 'वर्जन' अर्थ में 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होते हैं। 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने का फल आगे 'पञ्चमी' होना बताया जायगा।

66. आङ् मर्यादावचने 1/4/89//

अर्थ . मर्यादा में 'आङ्' भी 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होता है। 'वचन' ग्रहण करने में अभिविधि अर्थ भी गृहीत होता है।

67. पञ्चम्यपाङ्परिभिः 2/3/10//

अर्थ . कर्मप्रवचनीय संज्ञक 'अप', 'परि' तथा 'आङ्' के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण. (1) अप हरेः संसारः (=हरि के बिना संसार=जन्ममरण का चक्र)।

(2) परि हरेः संसारः (=हरि से बिना संसार)। 'अप' तथा 'परि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने के फलस्वरूप पञ्चमी हुई।

68. प्रतिनिधिप्रतिदानयोः 1/4/92//

अर्थ . 'प्रतिनिधि' और 'प्रतिदान' अर्थों में 'प्रति' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है।

69. प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् 2/3/11//

अर्थ . इस विन्याय में 'कर्मप्रवचनीय' के योग में 'पञ्चमी' विभक्ति होती है।

उदाहरण. (1) प्रतिनिधि अर्थ में 'प्रद्युम्नः कृणात् प्रति' (=प्रद्युम्न कृण का प्रतिनिधि है)।

(2) प्रतिदान अर्थ में 'प्रतियच्छति माणान्' (=तिलों के बदले में उड़द देता है) इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'प्रतिनिधि' एवं 'प्रतिदान' (विनिमय) अर्थों में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के फलस्वरूप पञ्चमी विभक्ति हुई।

70. अकर्तर्युणे पञ्चमी 2/3/24//

अर्थ . 'कर्तृभिन्न' (अकर्तरि) हेतुवाची शब्द से ऋण वाच्य होने पर (ऋणे) पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदाहरण. शताद् बद्धः (=सौ रुपये के ऋण से बँध गया)। यहाँ पर बन्धन का हेतु सौ रुपये है और वह हेतुवाची है। अतः पञ्चमी विभक्ति हुई . 'शतात्'।

71. विभा० गुणेऽस्त्रियाम् 2/3/25//

अर्थ. स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अर्थात् पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान जो हेतुवाची गुण बोधक ाब्द, उसमें विकल्प से 'पञ्चमी' विभक्ति होती है। अतः पक्ष में 'हेतौ' (2.3.27) से प्राप्त तृतीया विभक्ति भी होगी।

उदाहरण. जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (=मूर्खता से बन्धन में फँस गया)। 'जाड्य' ाब्द बन्धन का कारण है और स्त्रीलिङ्ग वाची भी नहीं है, अतः पञ्चमी और तृतीया विभक्ति हुई।

72. पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् 2/3/32//

अर्थ. 'पृथक्', 'विना' और नाना के योग में योग में तृतीया होती है। पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया भी। सूत्र में 'अन्यतरस्या' पद समुच्चयार्थक है। पूर्व सत्रों से 'पञ्चमी' और 'द्वितीया' की अनुवृत्ति भी होती है।

उदाहरण. पृथक् रामेण, रामं, रामात्, वा। इसी प्रकार 'विना' 'नाना' के साथ भी (तीनों विभक्तियाँ होंगी)।

73. करणे च स्तोकाल्पकृच्छकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य 2/3/33//

अर्थ. स्तोक (थोड़ा), अल्प (थोड़ा), कृच्छ्र (कठिनता) तथा कतिपय (कुछ), इन अद्रव्यवाचक ाब्दों से कारणकारक में तृतीया और पञ्चमी विभक्ति हों। क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर ये ाब्द अद्रव्यवाचक होते हैं। उसी स्थिति में ये ाब्द इस सूत्र के उदाहरण होंगे।

उदाहरण. स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः (=सरलता से छूटा)। तृतीया और पञ्चमी विभक्तियाँ हुईं। 'स्तोक' पद से द्रव्यवाची होने पर पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी। अतः 'स्तोकेन विशेषण हतः' (=थोड़े से विशेषण से मर गया) में तृतीया विभक्ति हुई।

2.4.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास

उदाहरण वाक्य .

1. आपणात् लेखनीं क्रीणातु ।
2. व्याघ्रात् जनाः भीताः भवन्ति ।
3. हिमालयात् गङ्गा प्रभवति ।
4. गृहात् बहिः वृक्षः अस्ति ।
5. आरक्षकेभ्यः चौराः भीताः भवन्ति ।

6. विद्यालयात् छात्रः आगतः ।
7. वृक्षात् पत्रं पतति ।
8. देवालयात् बहिः भक्ताः सन्ति ।
9. कृष्णः कंसात् जनान् रक्षितवान् ।
10. पुस्तकालयात् पुस्तकानि आनयति ।
11. रामः रावणात् सीतां रक्षितवान् ।
12. वाटिकायाः बहिः आपणः अस्ति ।

अभ्यास .

1. रावणः भीतः आसीत् । (रामः)
2. पत्राणि पतन्ति । (वृक्षः)
3. इन्द्रः देवान् रक्षितवान् । (दानवाः)
4. जनाः नगरं गच्छन्ति । (ग्रामः)
5. बहिः उद्यानम् अस्ति । (विद्यालयः)

2.5 सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति)

74. ष"ठी षे"ी 2/3/50//

अर्थ .कारक और प्रातिपदिकार्थ में भिन्न स्वस्वाभिभाव आदि सम्बन्ध 'शे"ी' है। उस 'षे"ी' अर्थ में ष"ठी विभक्ति होती है। राज्ञः पुरु"ीः। 'कर्म' आदि के सम्बन्धमात्र की विवक्षा में भी ष"ठी होती है।

उदाहरण. (1) सतां गतम्। (सज्जनों का जाना)

(2) सर्पि"ीः जानीते। (घी के कारण त्रस्त होता है)

(3) मातुः स्मरति। (माता का स्मरण करता है)

(4) एधो दकस्योपस्कुरुते। (लकड़ी जल को परिष्कृत करती है)

(5) भजे 'भम्भोः चरणयोः। (शम्भु के चरणों को भजता हूँ)

(6) फलानां तृप्तः। (फलों से तृप्त)

75. ष"ठी हेतुप्रयोगे 2/3/26//

अर्थ . 'हेतु' 'बुद्ध' के प्रयोग में यदि द्योतित हो रहा हो तो उस 'बुद्ध' से भा"ठी विभक्ति होती है। उदाहरण . अन्नस्य हेतोः वसति (= अन्न के कारण रहता है) यहाँ रहने का हेतु अन्न है तथा हेतु 'बुद्ध' का प्रयोग भी किया गया है, अतः भा"ठी। अन्न के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'हेतु' में भी ष"ठी हुई। यह हेतु.तृतीया का अपवाद है।

76. सर्वनाम्नस्तृतीया च 2/3/27//

अर्थ . सर्वनाम के साथ हेतु 'बुद्ध' का प्रयोग होने पर यदि वे हेतु.अर्थ प्रकट करते हों तो 'सर्वनाम' और 'हेतु' दोनों में ही तृतीया और ष"ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण. 'केन हेतुना वसति' (किस हेतु से रहता है)। 'कस्य हेतोः वसति' (किस हेतु से रहता है)। निमित्त के पर्यायवाची 'बुद्धों' का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं। जैसे. 'किं निमित्तं वसति' 'केन निमित्तेन वसति' 'कस्मै निमित्ताय वसति' इत्यादि। इसी तरह. 'किं कारणम्', 'को हेतुः', 'किं प्रयोजनम्' इत्यादि भी जानें।

77. ष"थ्यसर्थप्रत्ययेन 2/3/30//

अर्थ . अतस्.अर्थक प्रत्ययान्त 'बुद्धों' के योग में ष"ठी विभक्ति हो।

उदाहरण. ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरि"टात् (=गाँव से दक्षिण की ओर, आगे, उपर की ओर)।

78. एनपा द्वितीया 2/3/31//

अर्थ . 'एनप' प्रत्ययान्त 'बुद्धों' के साथ द्वितीया विभक्ति होती है। 'एनपा' इस योग विभाग से ष"ठी भी होती है।

उदाहरण. (1) दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा।

(2) उत्तरेण ग्रामं ग्रामस्य वा।

79. दूरान्तिकार्थेः "k"थ्यन्यतरस्याम् 2/3/34//

अर्थ . 'दूर' और समीपार्थक 'बुद्धों' के साथ ष"ठी और पंचमी होती है।

उदाहरण. दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामात् वा ।

80. ज्ञोऽविदर्थस्य करणे 2/3/51//

अर्थ . ज्ञानार्थ.भिन्न 'ज्ञा' धातु के करण में सम्बन्ध की विवक्षा होने पर ष"ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण. सर्पि"ः ज्ञानम् ।

81. अधीगर्थदयेशां कर्मणि 2/3/52//

अर्थ . 'अधि' पूर्वक 'इक्' धातु के समानार्थक धातु तथा 'दय्' एवम् 'ईश्' धातुओं के कर्मकारक में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में ष"ठी होती है।

उदाहरण . (1) मातुः स्मरति (माता का स्मरण करता है।) (2) सर्पि"ः दयनम् (=घी का दान) (3) सर्पि"ः ईशनम् (घी का स्वामी होना) तीनों में ष"ठी विभक्ति हुई ।

82. कृञः प्रतियत्ने 2/3/53//

अर्थ . गुणाधान अर्थ में 'कृञ्' धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में ष"ठी विभक्ति होती है। उदाहरण . एघो दकस्य उपस्करणम् (इंधन का जल में उ"णता आदि उत्पन्न करना) गुणाधान के कारण 'दकस्य' में ष"ठी।

83. रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः 2/3/54//

अर्थ . 'ज्वरि' को छोड़कर अन्य रोगवाचक धातुओं के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में ष"ठी होती है, यदि उनका कर्ता भाववाचक हो।

उदाहरण. चोरस्य रोगस्य रुजा (=रोगकर्तृक चोरसम्बन्धिनी पीड़ा)। यहाँ पर 'रोग' भागवाचक 'रुज' शब्द है। (रुज्+घञ्.भाव में) तथा रुजा (=पीड़ा) का कर्ता है, अतः भावकर्तृक होने से 'रुज्' के कर्म 'चोर' से 'रुज' शब्द की विवक्षा में ष"ठी हुई।

84. आशीर्वा नाथः 2/3/55//

अर्थ . आशीर्वचन अर्थ में नाथ् धातु के कर्म में 'रुज' शब्द की विवक्षा होनेपर कर्म में ष"ठी होती है।

उदाहरण. सर्पि॑ः नाथनम् (=घृतसम्बन्धी इच्छा का आशीर्वाद) यहाँ पर नाथ् का आशीर्वाद अर्थ होने से 'सर्पि॑ः' में ष॑ठी हुई।

85. जासिनिप्रहणनाटक्राथपि॑ः हिंसायाम् 2/3/56//

अर्थ .हिंसार्थक जासि, नि.प्र.पूर्वक हन्, नाटि, क्राथ और पि॑ धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में ष॑ठी होती है।

उदाहरण. (1) हिंसार्थक 'जासि' धातु.चौरस्य उज्जासनम् (चोर को पीटना)

(2) 'हन्' धातु के साथ 'नि' और 'प्र' उपसर्ग .

क . दोनों उपसर्ग मिलकर.'चौरस्य निप्रहणनम्'

ख . विपरीत क्रम में.'चौरस्य प्रणिहननम्'

ग . पृथक.पृथक.'चौरस्य निहननम्' अथवा 'चौरस्य प्रहणनम्'

सभी स्थितियों में शेषत्व विवक्षा में ष॑ठी होगी।

(3) चुरादिगण पठित 'नट' धातु .

चौरस्य उन्नाटनम् (चोर को मारना)

(4) चुरादिगण पठित 'क्रथ्' धातु .

चौरस्य क्राथनम् (चोर को पीटना)

(5) 'पिष्' धातु .

वृषलस्य पेषणम् (वृषल को अधिक दण्ड देना)

इन उदाहरणों में ष॑ठी विभक्ति हुई ।

सूत्र में उक्त धातुओं के हिंसार्थक रहने पर ही कर्म की 'े'त्व विवक्षा में भा॑ठी.विधान होने के कारण 'धाना. पे॑णम्' (=धान कूटना, पीसना) में "कर्तृकर्मणोः कृति" (2.3.65) से कर्म में ष॑ठी विभक्ति हुई ।

86. व्यवहृपणोः समर्थयोः 2/3/57//

अर्थ .समानार्थक 'वि' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृ' और 'पण्' धातुओं के कर्म से शेषत्व विवक्षा में ष॑ठी होती है।

उदाहरण. शतस्य व्यवहरणं पणनं वा (सौ रूपये का लेन.देन करना या जुआँ खेलना) सम्बन्ध मात्र में ष॑ठी होने से यहाँ समास नहीं हुआ।

87. दिवस्तदर्थस्य 2/3/58//

अर्थ . द्यूत और क्रय.विक्रय व्यवहार में दिव् धातु के कर्म में ष"ठी होती है।
जैसे- 'तस्य दीव्यति। द्यूत और क्रय.विक्रय में अर्थ (तदर्थस्य) न होने से 'ब्राह्मणं दीव्यति' (=ब्राह्मण की स्तुति करता है) में ष"ठी विभक्ति नहीं हुई। अतः कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई ।

88. विभा"सोपसर्गे 2/3/59//

अर्थ .सोपसर्ग 'दिव्' धातु के सम्बन्ध में यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। तदनुसार उपसर्ग सहित दिव् धातु से द्यूत और क्रय.विक्रय व्यवहाररूप अर्थ में उसके कर्म को विकल्प से ष"ठी विभक्ति होती है। पक्ष में यथाविहित कर्मणि द्वितीया होगी। उदाहरण . 'तस्य तं वा प्रतिदीव्यति (=सौ रूपये दाव पर लगाता है) यहाँ पर 'शत' से विकल्प से ष"ठी हुई।

89. प्रे"यब्रुवोर्हवि"गो देवतासम्प्रदाने 2/3/61//

अर्थ .देवताओं को देना अर्थ में वर्तमान 'प्रे"य' और 'ब्रू' धातुओं के कर्म में हविर्विशे"वाचक 'ब्द से ष"ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण. अग्नये छागस्य हवि"गो वपाया मेदसः प्रे"य अनुब्रूहि वा।

90. कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे 2/3/64//

अर्थ . 'कृत्वसुच्' प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान जो प्रत्यय है, तदन्त प्रतिपदिकों के प्रयोग होने पर कालवाची अधिकरणों में 'े"त्व की विवक्षा में ष"ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण. (1) पञ्चकृत्वः अह्नः भोजनम् (दिन में पाँच बार भोजन)।

(2) द्विः अहनः भोजनम् (दिन में दो बार भोजन)

जब सम्बन्ध मात्र (शे"गे) की विवक्षा न होकर अधिकरण की विवक्षा होगी तो 'सप्तमी' ही होगी। जैसे. द्विः अहनि अध्ययनम् (=दिन में दो बार पढ़ना)

91. कर्तृकर्मणोः कृति 2/3/65

अर्थ . कृत्प्रत्ययान्त 'ब्दों के योग में उनके कर्ता और कर्म में ष"ठी विभक्ति होती है।

उदाहरण. (1) कृ०णस्य कृतिः (कृष्ण की रचना)।

(2) जगतः कर्ता कृ०णः(जगत् को बनाने वाला कृष्ण)।

यदि 'कृत' प्रत्ययों में तद्धित.प्रत्यय संयुक्त हो जायँ तो ऐसी स्थिति में '०ण' विभक्ति न हो। यही 'कृति' पद की सार्थकता है। जैसे. कृतपूर्वी कटम् (= इसने चटाई पहले बना ली है।)

92. उभयप्राप्तौ कर्मणि 2/3/66//

अर्थ .जिस कृत्प्रत्यय के योग में कर्ता और कर्म दोनों में एक साथ ष०ठी प्राप्त हो वहाँ अनभिहित कर्म में ही ष०ठी हो कर्ता में नहीं।

उदाहरण. आश्चर्यः गवां दोहः अगोपेन (=जो गोपगवाला नहीं है उससे गायों का दुहा जाना आश्चर्य की बात है)

93. क्तस्य च वर्तमाने 2/3/67//

अर्थ .वर्तमानार्थक 'क्त' प्रत्यय के योग में ष०ठी होती है। आगे आने वाले "न लोकाव्यय. नि०ठा" इत्यादि सूत्र का यह अपवाद है।

उदाहरण. राज्ञां मतः, बुद्धः, पूजितः वा (=राजा मानते हैं, जानते हैं या पूजते हैं)।

94. अधिकरणवाचिनश्च 2/3/68//

अर्थ .अधिकरणार्थक 'क्त' प्रत्यय के योग में भी ष०ठी होती है।

उदाहरण. (1) इदम् ए०णाम् आसितम् (यह इनका आसन है)।

(2) इदम् ए०णाम् आयितम् (यह इनकी 'आय्या है)।

(3) इदम् एषां गतम् (यह इनका मार्ग है)।

(4) इदम् एषां भुक्तम् (यह इनका भोजनपात्र है)।

95. न लोकाव्ययनि०ठाखलर्थतृनाम् 2/3/69//

अर्थ .इनके योग में ष०ठी नहीं होती।

उदाहरण. (1) लादेश.कुर्वन् कुर्वाणः सृ०टं हरिः।

(2) उ.हरि दिदृक्षुः अलङ्करि०णुर्वा ।

- (3) उक.दैत्यान् धातुकः हरि। कम् धातु के साथ ष"ठी का नि"ोध नहीं होता। जैसे- लक्ष्म्याः कामुकः ।
- (4) अव्यय- जगत् सु"ट्वा।
- (5) नि"ठ-
- (क) दैत्यान् हतवान् वि"णुः।
- (ख) वि"णुना हताः दैत्याः।
- (6) खलर्थ .ई"ात्करः प्रपञ्चः हरिणा।
- (7) 'तृन्' प्रत्याहार के रूप में गृहीत है। 'तृशानचौ' के 'तृ' से आरम्भ होकर 'तृन्' के नकार तक लिया गया है। इसके अन्तर्गत उदाहरण -
- (क) 'तृानच्- सोमं पवमानः
- (ख) चानश्-आत्मानं मण्डयमानः।
- (ग) 'तृ-वेदम् अधीयन्
- (घ) तृन्-कर्ता लोकान्।
- 'तृ.प्रत्ययान्त द्वि"ा धातु के योग में विकल्प से भा"ठी नि"ोध होता है। जैसे. मुरस्य मुरं वा द्वि"ान्। यह सब कारक"ा"ठी का ही नि"ोध है। 'तृ.ा.ा"ठी तो होगी। जैसे-
- (क) ब्राह्मणस्य कुर्वन् ।
- (ख) नरकस्य जि"णुः।

96. अकेनोर्भवि"यदाधमर्णयोः 2/3/70//

अर्थ . 'भवि"यत्' अर्थ में विहित 'अक' और 'भवि"यत्' तथा 'आधमर्ण्य' अर्थ में विहित 'इन्' इन दोनों प्रत्ययों के योग में ष"ठी नहीं होती।

उदाहरण. (1) 'अक' सतः पालकः अवतरति (सज्जनों का पालन करने वाला अवतार लेता है)।

- (2) 'भविष्यत'- व्रजं गामी (व्रज को जाने वाला)।
- (3) आधमर्ण्य - 'शतं दायी' (सौ रुपये का देनदार)।

97. कृत्यानां कर्तरि वा 2/3/71//

अर्थ . 'कृत्य' प्रत्ययों के योग में कर्ता में विकल्प से ष"ठी होती है।

उदाहरण. मया मम वा सेव्यः हरिः (मेरे द्वारा हरि की सेवा करनी चाहिये)। यहाँ 'सेव' धातु से कर्म में "ऋहलोर्ण्यत्" (3.1.124) से 'ण्यत्' प्रत्यय 'कृत्य' संज्ञक हुआ है। अतः उसके योग में षष्ठी हुई। पक्ष में कर्तृ . तृतीया हुई।

98. तुल्यार्थेतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् 2/3/72//

अर्थ . तुला और उपमा 'ाब्दों से भिन्न तुल्यार्थक 'ाब्दों के योग में तृतीया विकल्प से होती है। पक्ष में ष"ठी होगी।

उदाहरण. तुल्यः सदृशः वा कृष्णेन कृष्णस्य वा (कृष्ण के सदृश)। तुल्य, सदृश आदि तुल्यार्थक शब्दों के योग में 'कृष्ण' से तृतीया तथा षष्ठी हुई।

99. चतुर्थी चाशि"यायु"यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः 2/3/73//

अर्थ . 'आशीर्वाद' अर्थ में इनके योग में विकल्प से चतुर्थी होती है। पक्ष में नहीं होगी।

उदाहरण. आयु"यं चिरजीवितं कृ"णाय कृ"णस्य वा भूयात् (कृष्ण आयुष्मान् या चिरंजीवी हो)। इसी तरह- मद्रं, भद्रं, कुशलं, सुखं, 'ाम्, अर्थः, प्रयोजनम्, हितं, पथ्यं वा भूयात्। देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति (देवदत्त दीर्घायु है)। इस उदाहरण में तथ्य - वर्णन है, आशीर्वाद अर्थ नहीं है। अतः चतुर्थी नहीं हुई। यथाप्राप्त षष्ठी हुई।

2.5.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास

उदाहरण वाक्य .

1. दशरथस्य पुत्रः रामः ।
2. कार्यक्रमस्य उद्घाटनम् अभवत् ।
3. कविः काव्यस्य परिशीलनं करोति ।
4. सीतायाः पतिः रामः ।
5. गृहस्य वर्णः श्वेतः ।
6. लक्ष्मणः रामस्य अनुजः ।

7. बालकानां कोलाहनेन अध्यापकः कुपितः ।
8. तेषां गृहे जनाः आगताः ।
9. कस्याः पुत्रः रामः ?
10. भवत्याः नाम किम् ?
11. भवतः गुहं कुत्र वर्तते ?
12. धनिकानां गृहाणि उन्नतानि भवन्ति ।

अभ्यास .

1. देशः भारतः । (वयम्)
2. अध्ययनेन ज्ञानं वर्धते । (पुस्तकम्)
3. पुत्रः कृष्णः । (देवकी)
4. पतिः दुष्यन्तः । (शकुन्तला)
5. व्यवहारः उत्तमः । (बालकाः)

2.6 अधिकरण कारक (सप्तमी विभक्ति)

100. आधारोऽधिकरणम् 1/4/45//

अर्थ . कर्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधारभूत कारक की 'अधिकरण' संज्ञा होती है।

101. सप्तम्यधिकरणे च 2/3/36//

अर्थ . अधिकरण में सप्तमी होती है। 'च' पद से 'दूर' और समीपार्थक का भी ग्रहण होता है। आधार तीन प्रकार का है .

उदाहरण. (1) औपश्लेषिक आधार, जहाँ आधार और आधेय का संयोग हो, यथा . कटे आस्ते (= चटाई पर बैठा है)। स्थाल्यां पचति (= पतीली में पकाता है)।

(2) वैषयिक आधार. विषय से सम्बन्ध रखने वाला आधार वैषयिक कहलाता है, यथा . मोक्षे इच्छा अस्ति। यहाँ 'मोक्ष' इच्छा का विषय है।

(3) अभिव्यापक आधार. जिसका आधेय के साथ सर्वावयव सम्बन्ध हो, यथा. सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति (= सब में आत्मा है)। तिलेषु तैलम् (=तिलों में तेल है)।

102. यस्य च भावेन भावलक्षणम् 2/3/37//

अर्थ. जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित की जाय उससे सप्तमी होती है।

उदाहरण. गो"ु दुह्यमानासु गतः। (=गायों के दुहे जाते हुए वह गया)।

103. षष्ठी चानादरे

अर्थ . अनादर की अधिकता प्रकट करने पर भावलक्षण में भा"ठी और सप्तमी होती है। जैसे. रुदति रुदतः वा प्राव्राजीत्। इसका अर्थ है. रोते हुए पुत्रादि को छोड़ कर संन्यास ले लिया ।

104. स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च 2/3/39//

अर्थ . स्वामी (प्रभु), ईश्वर (प्रभु), अधिपति (स्वामी), दायाद (अंशहर), साक्षी (गवाह), प्रतिभू और प्रसूत (उत्पन्न) इन सात शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

उदाहरण. गवां गो"ु वा स्वामी (=गायों का मालिक)। गवां गो"ु वा प्रसूतः (= गायों के मध्य उत्पन्न)। अर्थात् गायों का ही उपयोग करने के लिये उत्पन्न हुआ।

105. आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् 2/3/40//

अर्थ . तात्पर्य अर्थ में इन दोनों 'ाब्दों के योग में भा"ठी और सप्तमी होती है। आयुक्त का अर्थ. लगाया हुआ। उदाहरण. आयुक्तः कुशलः वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा (हरिपूजन में संलग्न) 'हरिपूजन' 'ाब्द से भा"ठी एवं सप्तमी हुई। 'आयुक्तः गौः 'ाकटे' (=गाड़ी में थोड़ा जुता हुआ बैल) इस उदाहरण में 'आयुक्त' न होने से दोनों विभक्तियाँ नहीं हुईं। केवल सप्तमी ही हुई।

106. यतश्च निर्धारणम् 2/3/41//

अर्थ . जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा की विशेषता के आधार पर किसी एक का अपने समुदाय से पृथक करना निर्धारण कहलाता है। जिसमें से छँटा जाय उसमें भा"ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

उदाहरण. (1) नृणां नृ"ु वा द्विजः श्रे"ठः (=मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है)।

- (2) गवां गो"ु वा कृ"णा बहुक्षीरा (=गायों में काली गाय अधिक दूध देती है)।
- (3) गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् 'ीघ्नः(=चलने वालों में दौड़ने वाला शीघ्र जाता है)।
- (घ) छात्राणां छात्रे"ु वा मैत्रः पटुः (=छात्रों में मैत्र चतुर है)। यहाँ षष्ठी और सप्तमी दोनों हुईं।।

107. पञ्चमी विभक्ते 2/3/42//

अर्थ . विभक्त पद का अर्थ विभाग है। निर्धार्यमाण के भेद होने पर उसमें पंचमी होती है। उदाहरण . माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः (= मथुरावासी पाटलिपुत्र वालों से अधिक धनी है)।

108. साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः 2/3/43//

अर्थ . प्रशंसार्थक 'साधु' और 'निपुण' 'ाब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

उदाहरण. मातरि साधुः निपुणः वा (= माता के प्रति सज्जन अथवा माता की सेवा में निपुण)। 'साधु' तथा 'निपुण' 'ाब्दों के योग में 'मातृ' 'ाब्द से सप्तमी हुई . 'मातरि'। सूत्र में कहे गये 'अप्रतेः' के अनुसार प्रति, परि, अनु का प्रयोग होने पर साधु तथा निपुण के योग में सप्तमी नहीं होगी। अतः साधुः निपुणः वा मातरं प्रति, परि, अनु वा (= माता के प्रति सज्जन)। में सप्तमी विभक्ति नहीं हुई अपितु 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासुप्रतिपर्यन्वः' से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

सूत्र में 'अर्चायां' गहण करने से 'राज्ञः भृत्यः निपुणः' (= राजा का सेवक निपुण है) में राजन् शब्द से सप्तमी नहीं हुई क्योंकि यहाँ पर वास्तविकता है, प्रशंसा नहीं।

109. प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च 2/3/44//

अर्थ . साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः (2.3.46) से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'प्रसित' और 'उत्सुक' 'ाब्दों के योग में तृतीया विभक्ति होती है। तथा 'च' पद से सप्तमी विभक्ति का भी लाभ होता है। 'उत्सुक' 'ाब्द के साहचर्य से 'प्रसित' 'ाब्द भी 'तत्पर' अर्थवाची लिया जाता है। उदाहरण. प्रसितः उत्सुकः हरिणा हरौ वा (=हरि के

लिये तत्पर)। हरि के प्रति उत्परता होने के कारण 'प्रसित' के योग में 'हरि' 'ब्द से तृतीया हुई, पक्ष में सप्तमी भी।

110. नक्षत्र च लुपि 2/3/45//

अर्थ . जब प्रकृतिवाची 'ब्द का अर्थ नक्षत्र हो और प्रत्यय का 'लुप्' 'ब्द से लोप हुआ हो किन्तु उसका अर्थ यदि विदित हो तो उस नक्षत्रवाचक 'ब्द से अधिकरण अर्थ में तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। उदाहरण . मूलेन आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्, मूले श्रवणे वा (= मूलनक्षत्र से युक्त काल में देवी का आवाहन करें और श्रवणनक्षत्र से युक्त काल में विसर्जन करें) सूत्र में यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि नक्षत्रवाची 'ब्द से 'युक्त काल' अर्थ में होने वाले प्रत्यय का लोप होन पर ही (लुपि) तृतीया विभक्ति होती है। अतः पु"ये 'शनिः' (=पु"य नक्षत्र में 'नि है) में तृतीया नहीं हुई। नियमानुसार अधिकरण में सप्तमी हो गई।

111. सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये 2/3/7//

अर्थ . दो 'क्तियों (कारकों) के बीच में जो काल और मार्गवाचक 'ब्द उनमें सप्तमी और पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं।

उदाहरण. (1)कालवाची का उदाहरण. द्वयहे द्वयहाद् वा भोक्ता (=यह आज खाकर दो दिन में या दो दिन बाद खायेगा)। इस वाक्य में 'कर्ता' और उसके भोजन की मध्यावधि ही 'काल का अवकाश' है। यद्यपि भोजन करने वाला एक ही है फिर भी कालभेद से भिन्नता प्रतीत होती है। इसलिये 'कर्ता की दो 'क्तियों' के मध्य 'द्वयह' 'ब्द से 'सप्तमी' तथा 'पञ्चमी' दोनों विभक्तियाँ हुईं।

(2) 'कर्ता' और 'कर्म' के बीच 'देशवाची' का उदाहरण . अयम् इहस्थः क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (=यहीं बैठा.बैठा यह एक कोस पर या एक कोस से लक्ष्य भेद सकता है)। इस वाक्य में 'कर्ता और कर्म की 'क्ति' के मध्य मार्गवाची 'क्रोश' 'ब्द देश का अवकाश बतलाता है। अतः यहाँ 'सप्तमी' और 'पञ्चमी' दोनों विभक्तियाँ हुईं।

112. अधिरीश्वरे 1/4/97//

अर्थ . स्वस्वामि.सम्बन्ध में 'अधि' 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होता है।

113. यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी 2/3/9//

अर्थ . जिससे अधिकता बताई जाय और जिसका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कहा जाय, उन 'ाब्दों से कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है। उदाहरण. उप परार्धे हरेर्गुणाः। (=हरि के गुण परार्ध से भी अधिक है)। ऐश्वर्य में 'स्व' और 'स्वामी' दोनों से ही क्रमशः सप्तमी होती है।

उदाहरण. (1) अधि भुवि रामः (=राम पृथिवी के स्वामी है)।

(2) अधिरामे भूः (= पृथिवी राम के अधिकार में है)।

114. विभा"ा कृत्रि 1/4/98//

अर्थ. ईश्वर अर्थ होने पर 'कृ' धातु के योग में 'अधि' 'ाब्द की विकल्प से 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है। उदाहरण . यदत्र माम् अधिकरि"यति (=क्योंकि जो मुझे यहाँ नियुक्त करेगा)। इस वाक्य में नियोक्ता का प्रभुत्व प्रकट होता है। 'अधि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होने के फलस्वरूप 'माम्' में द्वितीया विभक्ति हुई।

2.6.1 उदाहरण वाक्य एवं अभ्यास

उदाहरण वाक्य .

1. उद्याने वृक्षाः सन्ति ।
2. प्रकोष्ठे महिलाः वार्ता कुर्वन्ति ।
3. नद्यां मीनः अस्ति ।
4. मम गृहे एकः शुकः अस्ति ।
5. भारते गङ्गा अस्ति ।
6. संस्कृते मम प्रीतिः वर्तते ।
7. मम वचनेषु विश्वसन्तु ।
8. पत्रिकायां चित्राणि सन्ति ।
9. लतासु पुष्पाणि विकसन्ति ।

10. मयि स्नेहं प्रदर्शयति ।
11. विदेशेषु धनं विद्या ।
12. जनेषु जागरुकता नास्ति ।

अभ्यास .

1. मम भक्तिः । (शिवः)
2. ज्ञानं वर्तते । (वेदाः)
3. बालिकाः पठन्ति । (पाठशाला)
4. बीजं वर्तते । (फलम्)
5. माता स्निह्यति । (पुत्रः)

2.7 सारांश

इस इकाई में आपने सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण कारक तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति के सूत्र, उदाहरण एवं प्रयोगों का ज्ञान प्राप्त किया है।

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वैयाकरण सिद्धांत कौमुदी . श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित
2. कारकप्रकरणम् (लघुसिद्धान्तकौमुदी) श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित

2.9 स्वपरस्त्र पश्न

1. सूत्रों की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये .
क. चतुर्थी सम्प्रदाने ।
ख. नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगाच्च ।
ग. ध्रुवमपायेऽपादानम् ।
घ. षष्ठी शेषे ।

ड. आधारेऽधिकरणम् ।

2. 'हरये रोचते भक्तिः' इस प्रयोग को समझाइये ।
3. 'नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः' इस प्रयोग को समझाइये ।
4. 'जगतः कर्ता कृष्णः' इस प्रयोग को समझाइये ।

इकाई - 3

कृदन्त प्रकरण (कृत्य प्रक्रिया)

इकाई की रूपरेखा

- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 प्रस्तावना
- 3.3 कृदन्त एवं कृत्य प्रत्यय परिचय
- 3.4 कृत्य प्रत्यय
- 3.5 उदाहरण
- 3.6 कृदन्त प्रयोगों में सहायक सूत्र
- 3.7 सेट् अनिट् एवं गुण विचार
- 3.8 सारांश
- 3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 3.10 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से कृदन्त एवं कृत्य प्रत्ययों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे। धातु एवं प्रत्ययों के सम्बन्ध से नए अर्थों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। प्रकरण के अतिरिक्त धातुओं से भी कृत्य प्रत्ययों का उपयोग कर सकेंगे।

3.2 प्रस्तावना

इस इकाई में कृदन्त प्रत्ययों का प्रथम भाग अर्थात् कृत्य प्रत्ययों का वर्णन है। इसका ज्ञान व्याकरण के अध्येता के लिए अत्यन्त अपेक्षित है, क्योंकि प्रातिपदिक ज्ञान के लिए कृदन्त, तद्धितान्त का ज्ञान आवश्यक है, जिसमें कृदन्त का सम्बन्ध धातुओं से है अतः धातु से लगने वाले तिङ्भिन्न प्रत्यय ही कृदन्त तद्धित एवं कृत्य को समासादि शब्दों में देखे जाते हैं। इसे ससूत्र एवं सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

3.3 कृदन्त प्रकरण (कृत्य प्रक्रिया)

कृदन्त एवं कृत्य प्रत्यय परिचय -

कृदन्त - पाणिनि अष्टाध्यायीसूत्रपाठ में 'कृदतिङ्-पा.सू. 3.1.93' सूत्र के अधिकार पठित प्रत्ययों को कृत् कहा जाता है। कृत् प्रत्ययों का विधान धातुओं से होता है अतः धातु एवं कृत् प्रत्यय से निष्पन्न शब्द को कृदन्त कहा जाता है।

कृत्य - पाणिनि अष्टाध्यायीसूत्रपाठ में 'कृदतिङ् 3.1.93' के अधिकार में 'कृत्याः 3.1.95' इस सूत्र का भी अधिकार चलता है। 'कृत्याः' के अधिकार में पढ़े गए प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा होती है, ये कृदन्त होते हुए कृत्यसंज्ञक कहलाते हैं।

धातु - महर्षि पाणिनि ने धातुपाठ नाम का ग्रन्थ लिखा है जिसमें 1943 धातुएँ हैं। 'भूवादयो धातवः' इस सूत्र के अनुसार 'भवादिगण में पठित क्रियावाचियों की धातुसंज्ञा होती है।'

विशेष - धातुओं से विहित होने वाले कृत् एवं तिङ् प्रत्यय ही होते हैं।

3.4 कृत्य प्रत्यय (कृत्य प्रक्रिया)

कृत्य प्रत्यय सात हैं - तव्यत् (तव्य), तव्य, अनीयर् (अनीय), केलिमर् (एलिम), यत् (य), और ण्यत् (य)। ये प्रत्यय सदा भाववाच्य और कर्मवाच्य में ही होते हैं, कर्तृवाच्य में नहीं, यथा-‘छात्रैः पुस्तकं पठितव्यम्’ (छात्रों को पुस्तक पढ़नी चाहिए) आदि। इनको संज्ञाओं के विशेषण स्वरूप भी प्रयोग में लाते हैं, जैसे-‘पेयं जलम्’ (पीने योग्य जल) आदि। हिन्दी में जो अर्थ ‘चाहिए’ और ‘योग्य’ आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है, प्रायः वही अर्थ संस्कृत में कृत्य-प्रत्ययान्त शब्द धात्वर्थ के साथ ही साथ ‘चाहिए’ आदि अर्थों का भी बोध कराते हैं, जैसे-‘पठितव्यम्’ (पढ़ना चाहिए) आदि।

कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के संज्ञाओं की भांति तीनों लिंगों में चलते हैं - पुंल्लिंग में ‘राम’ की तरह, नपुंसकलिंग में ‘ज्ञान’ की तरह और स्त्रीलिंग में ‘रमा’ की तरह।

कृत्य प्रत्ययों के विषय में कुछ नियम आगे दिये जा रहे हैं -

(1) तव्यत्, तव्य, अनीयर् और केलिमर्-ये प्रत्यय साधारणतया सभी धातुओं से लगाये जा सकते हैं। इन प्रत्ययों के पूर्व धातु के अन्तिम स्वर और यदि अन्तिम स्वर न हो तो उपधा वाले ह्रस्व को गुण हो जाता है तथा साधारण सन्धि के नियम लगते हैं। सेट्-अनिट्-प्रकरण के अनुसार ही ‘आर्धधातुकस्येड्वलादेः’ सूत्र सम्बन्धी नियमों से यहाँ ‘इट्’ आगम भी होता है।

(2) यत् - यह प्रत्यय केवल ऐसी धातुओं से होता है जिनके अन्त में ऋकार को छोड़कर अन्य कोई स्वर हो अथवा जिनके अन्त में प वर्ग का कोई वर्ण हो और उपधा में अकार। ‘यत्’ के पूर्व स्वर को गुणा हो जाता है। यदि आ, ए, ओ. ऐ या औ हो, उसके स्थान पर पहले ई होता है और फिर गुण आदेश।

(3) क्यप् - यह प्रत्यय इण्, स्तु, सास्, वृ, दृ और जुष् धातुओं से होता है। ‘क्यप्’ पर रहते ह्रस्वान्त धातु को ‘तुक्’ (त्) आगम होता है। ‘मृज्’ धातु से विकल्प से ‘क्यप्’ प्रत्यय होता है। क्यप् के अभाव में उससे ‘ण्यत्’ प्रत्यय होता है।

(4) ण्यत् - यह प्रत्यय ऋवर्णान्त और हलन्त (व्यंजनान्त) धातुओं से होता है। इसके पूर्व ऋवर्ण की वृद्धि (आर्) हो जाती है। यदि उपधा में अकार

हो तो उसे वृद्धि (आ) हो जाता है और यदि कोई और स्वर हो तो उसे बहुधा गुण प्राप्त होता है।

3.5 कृदन्त प्रत्ययों के उदाहरण

तयोरेव कृत्य क्त खलर्थाः (पा. 3/4/70)

अर्थात् - सकर्मक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव में ही कृत्य, क्त और खल् अर्थवाले प्रत्यय होते हैं, कर्ता अर्थ में नहीं।

विशेष - कृत्य प्रत्यय प्रायः भाव और कर्म में देखे जाते हैं।

(1) **एधितव्यं त्वया** (तुम्हारे द्वारा पढ़ा जा रहा है)

भौवादिक 'एधवृद्धौ' आत्मनेपदी सेट् एवं अकर्मक धातु से भाव में 'तव्यत्तव्यानीयरः' (3.1.96) इस सूत्र 'तव्य' प्रत्यय होने पर 'एध' में अनुबन्धलोप होकर 'एध्+तव्य' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इस सूत्र से इडागम अनुबन्धलोप टित्व होने प्रत्यय से पूर्व उपस्थिति हुई एध्+इ+तव्य='एधितव्य' इस स्थिति में 'कृत्तद्धितसमासश्च' से प्रातिपदिककार्य 'भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वंच' इस नियम के अनुसार एकवचन नपुंसकलिङ्ग में **एधितव्यम्** यह निष्पन्न हुआ।

(2) **एधनीयम्**

पूर्वोक्त अर्थ में ही यह प्रयोग है। भवादिगण में पठित वृद्धि अर्थ में 'एध वृद्धौ' धातु से भाव में 'तव्यत्तव्यानीयरः' सूत्र से अनीयर् प्रत्यय होकर 'एध' में अनुबन्धलोप तथा प्रत्यय के रेफ का लोप होकर एध्+अनीय=एधनीय 'भावे-औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वंच' इस नियम के अनुसार नपुंसकलिङ्ग के एकवचन में **एधनीयम्** यह निष्पन्न हुआ।

चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया (तुम्हारे द्वारा धर्म का चयन करना चाहिए)

(3) **चेतव्यः**

स्वादिगण में पठित उभयपदी, अनिट् एवं चिञ् चयने' धातु का अनुबन्धलोप कर के (ञ् लोप) कर्म में 'तव्यत्तव्यानीयरः' इस सूत्र से तव्य

प्रत्यय का विधान हुआ 'चि+तव्य' की आर्धधातुकसंज्ञा 'आर्धधातुकं शेषः' इस सूत्र से 'चे+तव्य' पुंस्त्व की विवक्षा में पुंल्लिङ्ग एकवचन में चेतव्यः यह सिद्ध हुआ।

(4) चयनीयः

स्वादिगण में पठित उभयपदी, अनिट्, सकर्मक चयनार्थक 'चिञ् चयने' धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' इस सूत्र से अनीयर् प्रत्यय का विधान हुआ। धातु एवं प्रत्यय का अनुबन्धलोप 'चि+अनीय' प्रत्यय की आर्धधातुकसंज्ञा 'आर्धधातुकं शेषः' इस सूत्र से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस सूत्र से गुण 'चे+अनीय' 'एचोऽ-यवायावः' इस सूत्रे अयोदश 'चय्+अनीय' = चयनीय पुंल्लिङ्ग में प्रथम की विवक्षा में 'सु' विभक्ति रुत्व विसर्ग चयनीयः यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

केलिमर उपसंख्यानम्

अर्थात् - भाव और कर्म में केलिमर प्रत्यय होता है।

(5) पचेलिमा माषाः (पलने योग्य उड़द)

भ्वादिगणीय 'डुपचष् पाके' अनिट्, सकर्मक धातु की अनुबन्ध लोप 'डु' की 'आदिर्त्रिटुडवः' इत्संज्ञा, ष् की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा एवं दोनों का 'तस्य लोपः' से लोप अकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा तस्य लोपः से लोप 'पच्' धातु से 'केलिमर उपसंख्यानम्' से केलिमर् प्रत्यय 'क' की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा रेफ की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप पच्+एलिम=पचेलिम पुंल्लिङ्ग में प्रथमा बहुवचन की विवक्षा में पचेलिम+जस्=पचेलिमाः यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(6) भिदेलिमा सरलाः (काटने योग्य सीधे वृक्ष)

रुधादिगणीय सकर्मक, परस्मैपदीय 'भिदिर् विदारणे' धातु से कर्म में 'केलिमर उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से केलिमर् प्रत्यय धातु के 'इर्' भाग की इत्संज्ञा 'इरित इत्संज्ञा वक्तव्या' इस सूत्र से 'तस्य लोप' से लोप प्रत्यय के अन्त रेफ की इत्संज्ञा 'हलन्त्यम्' सूत्र से एवं 'तस्य लोपः' से लोप भिद्+एलिम=भिदेलिम 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक कार्य पुंल्लिङ्ग में प्रथमा बहुवचन की विवक्षा में भिदेलिमाः यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

ध्यातव्य - तव्यत् एवं तव्य प्रत्यय में त् लोप का मात्र अन्तर है। इसका फल स्वरित स्वर कार्य में प्रयोग में तव्य ही श्रवण होता है।

कृत्यल्युटो बहुलम् (पा.सू. 3/3/113)

भावार्थ - कृत्य एवं ल्युट् प्रत्यय भाव, कर्म में होते हैं, किन्तु इस सूत्र से अन्य कारकों से भी विहित होते हैं।

(7) स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् (जिससे स्नान किया जाए ऐसा चूर्ण)

‘ष्णा शौचे’ अदादिगणीय, अकर्मक, परस्मैपदी धातु से ‘धात्वादेः षः स’ इस सूत्रसे आदि में दन्त्य स आदेश ‘निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः’ इस न्याय के अनुसार ‘स्ना’ यह रूप हुआ। करण अर्थ में अनीयर् प्रत्यय कृत्य ल्युटो बहुलम्’ इस सूत्र से प्रत्यय के रेफ का ‘हलन्त्यम्’ सूत्र से इत्संज्ञा ‘तस्य लोप’ से लोप स्ना+अनीय=स्नानीय’ कृदन्त होने के कारण ‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ इस सूत्र से प्रातिपदिककार्य नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में स्नानीयम् यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

अचो यत् (पा.सू. 3/1/97)

अर्थात् - अजन्त (जिसके अन्त में स्वर वर्ण हो) धातु से यत् प्रत्यय होता है।

(8) चेषम् (चयन करने योग्य)

स्वादिगणीय सकर्मक उभयपदी अनिट् ‘चिच् चये’ धातु से ‘अचो यत्’ सूत्र से यत् प्रत्यय का विधान होता है। धातु एवं प्रत्यय का अनुबन्धलोप ‘चि+य’ इस स्थिति में ‘य प्रत्यय’ की ‘आधुधातुकं शेष’ इस सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ से गुण ‘चे+य’ इस अवस्था में ‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ इस सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन की विवक्षा में सुबुत्पत्ति अम् भाव चेष+सु=चेय+अम्=चेयम् यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(9) देयम् (देना, देने योग्य)

अदादिगणीय परस्मैपदी सकर्मक ‘दा दाने’ धातु से ‘अचो यत्’ सूत्र से यत् प्रत्यय त् की इत् संज्ञा लोप ‘दा+य’ इस स्थिति में ‘ईदृति’ यत् प्रत्यय परे रहने पर आ को ईकार का विधान ‘दी+य’ इस स्थिति ‘सार्वधातु-कार्धधातुकयोः’ इस सूत्र से गुण ‘देय’ कृदन्त होने के कारण नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में देयम् यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(10) ग्लेषम् (ग्लानि, ग्लानि योग्य)

‘ग्लै हर्षक्षये’ भ्वादिगणीय अकर्मक धातु से भाव में ‘अचो यत्’ सूत्र से यत् प्रत्यय, त् की ‘हलन्त्यम्’ से इत्संज्ञा ‘तस्य लोपः’ से लोप धातु के ऐकार

को 'आदेश उपदेशेऽशिति' सूत्र से आकारान्तादेश 'ग्ल+य' इस दशा में 'ईद्यति' इस सूत्र से ईकारान्तादेश, 'ग्ली+य' इस दशा में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस सूत्र से गुण 'गले+य' कृदन्त होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र से प्रातिपादिक संज्ञा नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा एकवचन की विवक्षा में ग्लेयम् यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

पोरदुपधात् (पा. 3.1.98)

अर्थात् - यदि उपधा में ह्रस्व अकार हो तो पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय होता है।

(11) शप्यम्

भ्वादिगणीय सकर्मक, उभयपदी 'शप आक्रोशे' धातु का अनुबन्धलोप, ह्रस्वोपध पान्त शप् धातु से 'पोरदुपधात्' सूत्र से कर्म में 'यत्' प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप 'शप्+य' इस स्थिति में कृदन्त होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' प्रातिपादिकसंज्ञा, प्रातिपादिककार्य नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा एकवचन की विवक्षा में शप्यम् यह प्रयोग सिद्ध होता है।

(12) लभ्यम् (प्राप्ति, प्राप्ति योग्य)

भ्वादिगणीय सकर्मक आत्मनेपदी 'डुलभष् प्राप्तौ' धातु का अनुबन्ध लोप 'लभ्' यह शेष बचा, अदुपध पवर्गान्त होने के कारण कर्म में 'पोरदुपधात्' सूत्र से यत् प्रत्यय अनुबन्धलोप लभ्+य इस स्थिति में कृदन्त होने के कारण नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन की विवक्षा में लभ्यम् यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

एति-स्तु-शास्वृ-दृजुषः क्यप् (पा. 3.1.109)

अर्थात् - इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ और जुष् धातुओं को क्यप् प्रत्यय होता है।

(13) इत्यः (जाना, जाने योग्य)

अदादिगणीय गत्यर्थक अनिट् 'इण्' धातु का अनुबन्धलोप 'एतिस्तु-शास्वृदृजुष क्यप्' इस सूत्र से क्यप् प्रत्यय, प् की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, क् की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' से लोप पकार इत् संज्ञा होने के कारण 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्र से तुक् का आगम अनुबन्धलोप कित्त्व होने से धातु के अन्तावयव हो गया 'इत् य' इस स्थिति में कृदन्तत्व होने से

‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ से प्रातिपदिक कार्य प्रथमा एकवचन में सु विभक्ति रूत्वविसर्ग होकर इत्यः यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(14) शिष्यः (छात्र, शासन योग्य)

अदादिगणीय ‘शासु अनुशिष्टे’ धातु से उकार इत् लोप कर कर्म में ‘एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्’ से क्यप् प्रत्यय अनुबन्ध लोप ‘शास्+य’ इस स्थिति में कित्त्व होने से ‘शास इदङ्हलोः’ इस सूत्र से शास् के आकार को इकारादेश ‘शिस्+य’ इस अवस्था में ‘शासि-वसि-घसिनांच’ इस सूत्र से मूर्ध्यन्यादेश ‘शिष्य’ कृदन्तत्वात् ‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ से प्रातिपदिकसंज्ञा प्रथमा एकवचन की विवक्षा में शिष्यः यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(15) वृत्यः (वरण, वरण करने योग्य)

स्वादिगण में पठित ‘वृञ् वरणे’ धातु का अनुबन्धलोप कर्म में ‘एतिस्तु शास्वृदृजुषः क्यप्’ सूत्र से क्यप् प्रत्यय अनुबन्ध लोप ‘वृ+य’ इस स्थिति ‘ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्’ से तुक् का आगम अनुबन्ध का लोप कित्त्व होने से ‘आद्यन्तौ टकितौ’ से अन्तावयव ‘वृत्य’ कृदन्तत्वात् ‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ से प्रातिपदिकसंज्ञा प्रथमा एकवचन की विवक्षा में वृत्यः यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(16) आदृत्यः (आदर, आदर योग्य)

तुदादिगणीय आत्मनेपदी ‘दृङ् आदरे’ धातु ये का अनुबन्धलोप कर्म में ‘एतिस्तुशास्वृदृजुषः’ इस सूत्र से क्यप् अनुबन्धलोप आङ् उपपद ‘आ दृ+य’ इस स्थिति में ‘ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्’ तुक् का आगम अनुबन्ध लोप कित्त्व होने से अन्तावयव ‘आदृत्य’ कृदन्त होने के कारण ‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ इस सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा प्रातिपदिक कार्य प्रथमा एकवचन की विवक्षा में आदृत्यः यह प्रयोग सिद्ध होता है।

(17) जुष्यः

‘जुषी प्रीति सेवनयोः’ तुदादिगणीय सकर्मक आत्मनेपदी धातु की ईकार इत् लोप, कर्म में ‘एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्’ इस सूत्र से क्यप् अनुबन्धलोप ‘जुष्+य’ इस स्थिति में ‘पुगन्तलघूपधस्य च’ से गुण की प्राप्ति ‘किङिति च’ से गुण का निषेध ‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ से प्रातिपदिक संज्ञा, प्रातिपदिक कार्य प्रथमा एकवचन की विवक्षा में जुष्यः यह प्रयोग सिद्ध होता है।

मृजेर्विभाषा (पा.सू. 3.1.113)

अर्थात् - मृज धातु से विकल्प में ण्यप् प्रत्यय होता है।

(18) **मृज्यः** (साफ करना, साफ करने योग्य)

अदादिगणीय परस्मैपदी 'मृजू शुद्धौ' धातु का अनुबन्धलोप कर 'मृज' से कर्म में 'मृजेर्विभाषा' सूत्र से क्यप् प्रत्यय अनुबन्ध लोप 'मृज+य' इस अवस्था में 'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का 'विङिति च' इस सूत्र से निषेध कृदन्त होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' प्रातिपदिकसंज्ञा प्रातिपदिककार्य प्रथमा के एकवचन में मृज्यः यह प्रयोग निष्पन्न होता है।

ऋहलोर्ण्यत् (पा.सू. 3.1.124)

अर्थात् - ऋवर्णान्त और हलन्त धातु से व्यत् प्रत्यय होता है

(19) **मार्ग्यः**

अदादिगणीय परस्मैपदी 'मृजू शुद्धौ' धातु का अनुबन्ध लोप कर 'मृज' से वैकल्पिक ण्यत् प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' इस सूत्र से ण् की 'चुट्' की इत्संज्ञा त् की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा 'तस्य लोपः' 'मृज्+य' इस स्थिति में 'चजोः कु घिण्यतो' इस सूत्र से ण्यत् प्रत्यय परे रहते कुत्व 'मृग्+य' इस अवस्था में 'मृजेर्वृद्धि' से मृज् धातु को ऋकार को वृद्धि 'मार्ग्+य='मार्ग्य' कृदन्त होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' प्रातिपदिक संज्ञा प्रथमा एकवचन की विवक्षा में मार्ग्यः यह प्रयोग सिद्ध होता है।

(20) **कार्यम्** (काम, काम करने योग्य)

तनादिगणीय 'डुकृत्र करणे' धातु का अनुबन्ध लोप 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से व्यत् प्रत्यय अनुबन्धलोप 'कृ+य' इस स्थिति में 'अचोऽत्रिणति' इस सूत्र से अजन्त अङ्ग को वृद्धि 'कार्+य' कृदन्त होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा प्रथमा एकवचन की विवक्षा में **कार्यम्** यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

(21) **हार्यम्** (हरण, हरण करने योग्य)

भ्वादिगणीय उभयपदी 'हृत् हरणे' धातु से अनुबन्धलोप 'हृह' धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय अनुबन्धलोप 'हृह+य' णित्व परे रहने पर वृद्धि 'हार्+य' इस स्थिति में कृदन्त होने 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा, नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा एकवचन की विवक्षा में **हार्यम्** यह प्रयोग सिद्ध हुआ।

(22) **धार्यम्** (हरण, हरण करने योग्य)

भ्वादिगण की 'धृञ् धारणे' धातु का अनुबन्धलोप 'ऋहलोर्ण्यत्' इस सूत्र से ण्यत् प्रत्यय अनुबन्धलोप 'धृ+य' इस स्थिति में 'णित्' प्रत्यय पर रहने पर 'अचोणिति' सूत्र से अजन्त को वृद्धि 'धार्+य' 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा नपुसंकलिंग में प्रथमा एकवचन की विवक्षा में धार्यम् यह प्रयोग सिद्ध हुआ।

भोज्यं भक्ष्ये (पा.सू. 7.3.69)

अर्थात् - भोजन अर्थ में भोज्य ही रूप रहता है, शेष अर्थ में भोग्य बनता है।

(23) भोज्यम्-भोग्यम्

रूधादिगण की 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु का अनुबन्ध लोप 'भुज्' कर्म अर्थ में 'ऋहणोर्ण्यत्' सूत्र से व्यत् अनुबन्धलोप 'भुज्+य' इस स्थिति में 'पुगन्तलघूपधस्य च' से उपधा को गुण 'भोज्+य' इस स्थिति 'चजोः कु धिण्यतो' सूत्र से कुत्व की प्राप्ति 'भोज्यं भक्ष्ये' से भोजन अर्थ में कुत्व का अभाव 'भोज्य' प्रातिपदिक कार्य भोज्यम् यह प्रयोग सिद्ध हुआ। भोजन से अन्य अर्थ में 'भोज्+य' यह 'च जोः कु धिण्यतोः' से कुत्व कृदन्त होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा प्रथमा एकवचन की विवक्षा में भोग्यम् यह प्रयोग निष्पन्न हुआ।

3.6 कृदन्त प्रयोगों में सहायक सूत्र

कृदन्त प्रयोगों में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख सूत्रों का विवेचन किया जा चुका है। अब कतिपय सहायक सूत्रों का परिचय करा रहे हैं, इनके सूत्रों के द्वारा कृदन्त प्रयोग अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त होते हैं। निम्नानुसार सहायक सूत्र -

1. अदेङ्गुणः
2. वृद्धिरादैच्
3. कृत्तद्धितसमासाश्च

4. भूवादयो धातवः
5. सार्वधातुकार्धधातुकयोः
6. पुगन्तलघूपधस्य च
7. तिङ्शित्सार्वधातुकम्
8. आर्धधातुकं शेषः
9. क्ङिति च
10. उपदेशेऽजनुनासिक इत्
11. हलन्त्यम्
12. आदिर्गिटुडवः
13. चुटू
14. तस्य लोपः
15. उपसर्गाः क्रियायोगे
16. आद्यन्तौ टकितौ
17. मिदचोऽन्त्यात्परः
18. अलोऽन्त्यस्य
19. अनेकाल्शित्सर्वस्य

सूत्र - अदेङ्गुणः 1.1.2

वृत्तिः - अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

अर्थ - अत् (ह्रस्व अकार) ए, ओ की गुण संज्ञा होती है।

उदाहरण - देयम्, पेयम्

सूत्र - वृद्धिरादैच् 1.1.1

वृत्ति - आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

अर्थ - आ ए और औ की वृद्धि संज्ञा होती है।

उदाहरण - कार्यम्, मार्ग्यः

सूत्र - कृत्तद्धितसमासाश्च 1.2.46

वृत्ति - कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिसंज्ञकाः स्युः।

अर्थ - कृदन्त, तद्धितान्त और समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

विशेष - सामान्यतः प्रातिपदिक संज्ञा 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'

इस सूत्र से होती है लेकिन व्युत्पत्तिपक्ष में 'कृत्तद्धित' सूत्र से ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है। जब प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान न हो मात्र अर्थवत्ता का बोध हो तो 'अर्थवद' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा समझना चाहिए।

सूत्र - भूवादयो धातवः

वृत्ति - क्रियावाचिनो भवादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

अर्थ - क्रियावाचक भवादियों का धातु संज्ञा होती है।

विशेष - भवति, पठति इत्यादि क्रियावाचक धातुपाठ में संग्रहीत हैं। धातुपाठ में दस गण हैं-भ्वादिगण, अदादिगण, जुहोत्यादिगण, दिवादिगण, स्वादिगण, तुदादिगण, रुधादिगण, तनादिगण, क्र्यादिगण, चुरादिगण। 'भू' धातु सर्वप्रथम पठित है। अतः भ्वादि पद से दसों गणों का बोध होता है।

सूत्र - सार्वधातुकार्धधातुकयोः 7.3.84

वृत्ति - अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः

अर्थ - सार्वधातुक और आर्धधातुक के परे होने पर इक् (इ, उ, ऋ, लृद्ध अन्त वाले अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश होता है।

विशेष - पाणिनि धातुपाठ में इगन्त धातु भू, कृ, भृ, वृ, चि, मु इत्यादि पठित है। यह सूत्र इगन्त धातुओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उदाहरण - कर्तव्यः, देयम्, पेयम्

सूत्र - पुगन्तलघूपधस्य च 7.3.86

वृत्ति - पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः।

अर्थ - सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर पुगन्त (जिसके अन्त में पुक् आगम हो) और लघूपध (जिसकी उपधा लघु हो) अङ्ग के इक् (इ, उ, ऋ और लृ) के स्थान में गुण आदेश होता है।

उदाहरण - भोज्यम्, भोग्यम्

विशेष - अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण को उपधा कहते हैं।

सूत्र - तिङ्शित्सार्वधातुकम् 3.4.13

वृत्ति - तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता सार्वधातुकसंज्ञाः स्युः।

अर्थ - धातोः के अधिकार में पठित तिङ् और शित् (शकार इत्) प्रत्यय की सार्वधातुक संज्ञा होती है।

उदाहरण - भवति इत्यादि।

विशेष - सार्वधातुक संज्ञा का फल है गुण होना अथवा गुण वृद्धि का निषेध होना।

सूत्र - आर्धधातुकं शेषः 3.4.11

वृत्ति - तिङ्शित्भयोऽन्यः 'धातो' इति विहितः एतत्संज्ञः स्यात्।

अर्थ - तिङ् और शित् प्रत्ययों को दोड़कर अन्य जिन प्रत्ययों का धातु से विधान किया गया है जिनकी आर्ध धातुक संज्ञा होती है।

उदाहरण - कर्तव्यम्

विशेष - सार्वधातुक संज्ञा की तरह आर्धधातुकसंज्ञा का फल गुण एवं वृद्धि है, इसके अतिरिक्त इडागम भी इसका फल है।

सूत्र - विङिति च 1.1.5

वृत्ति - गित् कित् डिङ्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धि न स्तः।

अर्थ - गित्, कित् और डिङ् परे होने पर तन्निमित्त इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान पर गुण और वृद्धि नहीं होती।

उदाहरण - वृत्ति, कृति इत्यादि।

विशेष - इस सूत्र के द्वारा गुण वृद्धि का निषेध देखा जाता है।

सूत्र - उपदेशेऽजनुनासिक इत्

वृत्ति - उपदेशेऽजनुनासिकोऽज इत्संज्ञः स्यात्।

अर्थ - उपदेश अवस्था में अनुनासिक स्वर वर्ण की इत्संज्ञा होती है।

उदाहरण - शासु-शिष्यः

विशेष - कालक्रम से अनुनासिक स्वर की उच्चारण हो रहा है, किन्तु परम्परा से लक्ष्य को देखकर अनुनासिक का अनुमान कर लिया जाता है 'प्रतिज्ञाऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः।'

सूत्र - हलन्त्यम् 1.3.3

वृत्ति - उपदेशऽन्त्यं हलित्स्यात्।

अर्थ - उपदेश अवस्था में अन्त्य व्यंजन वर्ण की इत्संज्ञा होती है।

उदाहरण - कृञ्-कर्त्तव्यः, तव्यत्-तव्य स्यत्-य इत्यादि।

विशेष - उपदेश पारिभाषिक है - 'आद्योच्चारणम् उपदेशः' पाणिनि कात्यायन-पतंजलि द्वारा प्रथम उच्चारण (शास्त्र का) ही उपदेश है। वह है -

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्यलिङ्गानुशासनम्।

आगमप्रत्ययादेशाः उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

सूत्र - आदिर्त्रिटुडवः 1.3.5

वृत्ति - उपदेशे धातोरघा एते इतः स्युः।

अर्थ - उपदेश अवस्था में धातु के आदि में त्रि, टु, डु की इत् संज्ञा होती है।

उदाहरण - त्रिष्विदा-स्विद्, टुनदि-नन्द् डुपचष्-पच्।

विशेष - पाणिनि अष्टाध्यायी में प्रत्येक इत् का फल है।

सूत्र - चुटू 1.3.7

वृत्ति - प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

अर्थ - प्रत्यय के आदि चवर्ग (च्, छ, ज्, झ, ञ्) और ट वर्ग (ट्, ट्, ड्, ढ्, ण्) इत्यसंज्ञक होते हैं।

विशेष - यह सूत्र मात्र प्रत्यय के अनुबन्ध के लिए है।

सूत्र - तस्य लोपः 1.3.9

वृत्ति - तस्येतो लोपः स्यात्।

अर्थ - जिसकी भी इत्संज्ञा होती है उसका लोप होता है।

उदाहरण - यत्-य, डुकृत्-कृ इत्यादि।

विशेष - इत्संज्ञा का लोपफल है, प्रकृति-प्रत्यय में जहाँ इत्संज्ञा हुई है उसका लोप होना ही फल है। व्याकरण शास्त्र में इत्संज्ञा लोप को अनुबन्ध कहा जाता है। अत एव इत् संज्ञक वर्ण का लक्ष्य में श्रवण नहीं होता है।

सूत्र - उपसर्गाः क्रियायोगे - 1.4.59

वृत्ति - प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः।

अर्थात् - प्रादियों की धातु के योग में उपसर्ग संज्ञा होती है।

सूत्र - आद्यन्तौ ट्कितौ 1.1.46

वृत्ति - टित्कितौ यस्यौक्तौ यस्य क्रमादाद्यन्तावयावौ स्तः।

अर्थात् - टित् एवं कित् प्रत्यय जिस प्रकृति से कहे जाते हैं वे आदि एवं अन्त को अवयव होते हैं।

विशेष - यह परिभाषा सूत्र है।

सूत्र - मिदचोऽन्त्यात्परः 1.1.47

वृत्ति - अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित्स्यात्।

अर्थात् - अचों (स्वरो) के मध्य में जो अन्त अच् उससे परे मित् प्रत्यय अन्त्यावयव होता है।

विशेष - यह परिभाषासूत्र है।

सूत्र - अलोऽन्त्यस्य - 1.1.52

वृत्ति - षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात्।

अर्थात् - सूत्र में षष्ठी विभक्ति के निर्देश से किये जाने वाला कार्य अन्त वर्ण को होता है।

विशेष - यह परिभाषासूत्र है।

सूत्र - अनेकालिशत् सर्वस्य 1.1.55

वृत्ति - अनेकाऽल् शिच्च सर्वस्य स्थाने भवति।

अर्थात् - अनेक वर्ण वाला एवं शित् (शकार इत्संज्ञक) आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है।

विशेष - यह परिभाषा सूत्र है।

ध्यातव्य -

(1) ये परिभाषा सूत्र विधि सूत्र का संस्कार करते हैं। यह व्याकरण शास्त्र की व्यवस्था है। इनका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यद्यपि परिभाषा शास्त्र विधिसूत्र की वृत्ति में अनुस्यूत है। तथापि इसका हृदयङ्गम करने से तत्तत् स्थलों में शंका नहीं होती है।

(2) उपर्युक्त सहायक सूत्रों का परिज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है, क्योंकि अन्य प्रयोगों के परिवर्तन में इन सूत्रों की प्रमुख भूमिका होती है तथा इन सूत्रों के उदाहरणदेश भी अनेक होते हैं।

3.7 सेट् अनिट् एवं गुण विचार

विशेष

कृदन्त प्रयोगों में धातुओं का सेट् अनिट् विचार अत्यन्त अपेक्षित हैं, क्योंकि धातु एवं प्रत्यय यदि सेट् होंगे तभी इडागम होता है, इसके लिए कतिपय शास्त्रीय नियम हैं। अदुपध, उदुपध एवं इकारान्त धातुओं में भी सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर गुण का विचार है। कित् गित् डित् प्रत्यय परे रहने पर गुण निषेध होता इस प्रकार शास्त्रीय नियम भी जानना चाहिए।

यथा - चिञ्+क्त = चितः यहाँ गुण नहीं हुआ तथा इडागम भी नहीं हुआ। इसका सामान्य विचार अधोलिखित है -

सामान्यतया पूर्वाक्त अकारह 'तिङ्' प्रत्यय सार्वधातुक कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त जिन प्रत्ययों का शकार इत्संज्ञक होता है (जैसे 'शप्', 'श्यन्' आदि), उनको भी सार्वधातुक कहते हैं। इन तिङ् और शकार-इत्संज्ञक प्रत्ययों को

छोड़कर धातु से विहित अन्य प्रत्यय ('स्य', 'तासि' आदि) आर्धधातुक कहलाते हैं। इसके अलावा लिट् और आशीर्लिङ्ग के स्थान में आदेश लिए 'तिङ्' प्रत्यय भी आर्धधातुक संज्ञक होते हैं। लकारों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् शुद्ध सार्वधातुक और लिट् तथा आशीर्लिङ्ग शुद्ध आर्धधातुक लकार है। लुट् में 'तासि', लृट् और लृङ् में 'स्य' तथा लुङ् से 'च्चि' के आदेश 'सिच्', 'चङ्', 'अङ्', 'क्स' और 'चिण्' आर्धधातुक होते हैं। इसी से इन लकारों को भी आर्धधातुक ही कहते हैं।

सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्ययों के विषय में कुछ नियमों को स्मरण रखना आवश्यक है। 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में ये नियम विभिन्न सूत्रों में पृथक-पृथक स्थलों पर बताये गये हैं। यहां सुविधा के लिए वे सभी नियम एक ही जगह पर दिये जा रहे हैं -

1. सार्वधातुक अथवा अर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर इगन्त अंग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ या लृ हो) को गुण होता है किन्तु सार्वधातुक तिङ् प्रत्यय परे होने पर 'भू' और 'सू' धातुओं को गुण नहीं होता।
2. 'उर्णु' धातु को इलादि पित् सार्वधातुक (तिप्, सिप्, मिप्) परे होने पर विकल्प से वृद्धि भी होती है, किन्तु अपृक्त इलादि पित् सार्वधातुक (जैसे लङ् में 'तिप्' और 'सिप्') परे होने पर गुण ही होता है।
3. सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर पुगन्त (जिसके अन्त में 'पुक्' आगम हो) और लघूपध अंग (जिसकी उपधा में ह्रस्व स्वर हो) के इ, उ, ऋ या लृ को गुण होता है, किन्तु अजादि पित् सार्वधातुक (जैसे लोट् में उत्तम पुरुष का 'आट्') परे होने पर अभ्यस्त धातु (जिसका द्वित्व होता हो) को लघूपध गुण नहीं होता है।
4. यत्रादि सार्वधातुक (जिसके आदि में 'यञ्' प्रत्यहार का कोई वण हो) परे होने पर अकारान्त अंग को दीर्घ होता है।
5. कृत्-भिन्न यकारादि आर्धधातुक प्रत्यय (जैसे आशीर्लिङ्ग का 'यासुट्') परे होने पर अकारान्त भिन्न अजन्त अंग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ या औ हो) को दीर्घ होता है।
6. आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर अकारान्त अंग के अन्त्य अकार का लोप होता है।

7. आर्धधातुक 'इट्'-साधारणतया वलादि आर्धधातुक (जिसके आदि में 'वल्' प्रत्ययाहार का कोई वर्ण हो) को 'इट्' (इ) आगम होता है, किन्तु उपदेशावस्था में यदि धातु एकाच् और अनुदात्त हो तो उसके पश्चात् वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता। किन्तु इसके भी अनेक उपवाद हैं। इस विषय में कुछ आवश्यक नियम दिये जा रहे हैं -

- (अ) लिट् लकार में कृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, सु और श्रु-इन आठ धातुओं को छोड़कर अन्य एकाच् और अनुदात्त धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक-'व' और 'म' को 'इट्' होता है। इसी को 'क्रादि-नियम भी कहते हैं। हां, थल्' के विषय में कुछ वैशिष्ट्य है। अकारान्त धातु के बाद 'थल्' को 'इट्' नहीं होता, किन्तु उससे भिन्न अन्य अजन्त औ अकारवान् हलन्त (जिसमें अकार हो और अन्त में कोई व्यंजन वर्ण आया हो) धातुओं से परे 'थल्' को विकल्प' से 'इट्' होता है।
- (आ) स्वृ, षूङ् (अदादि. और दिवादि.) धूञ् और ऊदित् धातुओं (जिनका दीर्घ ऊकार इत् हुआ हो) के पश्चात् वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' होता है।
- (इ) श्रिञ् तथा दीर्घ अकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त धातुओं के बाद साधारणतया वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु पित् कित् वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता है। स्मरण रहे कि लिट् लकार में केवल 'व' और 'म' प्रत्यय ही कित् वलादि आर्धधातुक हैं। अतः यहाँ ही यह नियम लगता है किन्तु यहाँ भी पूर्वाक्त 'आदि-नियम' से इसका बाध हो जाता है। फलतः इन धातुओं के पश्चात् भी 'व' और 'म' प्रत्ययों को 'इट्' होता है। हां, प्रयोग-सिद्धि करते समय इस समस्त प्रक्रिया को दिखाना आवश्यक है।
- (ई) कृती, चृती, उच्छृदिर्, तृदिर् तथा नृती धातुओं के पश्चात् सामान्यतया वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु 'सिच्' भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय (जैसे 'लृट्' और लृङ् में 'स्य') को विकल्प से 'इट्' होता है।
- (उ) 'हन्' और ह्रस्व अकारान्त (एकाच्) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को साधारणतया 'इट्' नहीं होता, किन्तु 'स्य' को नित्य 'इट्' होता है।

- (ऊ) एकाच्-अनुदात्त होने के कारण 'गम्' (गम्) धातु के बाद वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता, किन्तु 'स्य' को यहाँ भी 'इट्' होता है।
- (ए) सामान्य रूप से स्तु और षुञ् (सु) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता और धूञ् धातु से परे विकल्प से 'इट्' आगम होता है।
- (ऐ) एकाच् ह्रस्व अकारान्त धातुओं के पश्चात् एकाच्-अनुदात्त होने से सामान्यतया वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता, किन्तु आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर एकाच् संयोगादि अकारान्त (जैसे 'स्तृञ् आदि) के बाद 'सिच्' और आशीर्लिङ्ग के 'सीयुट्' को 'इट्' होता है।
- (ओ) साधारणतया वृङ्, वृञ् और दीर्घ अकारान्त धातुओं के पश्चात् वलादि आर्धधातुक को नित्य 'इट्' होता है, किन्तु आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर इन धातुओं के बाद 'सिच्' और आशीर्लिङ्ग के 'यासुट्' को विकल्प से 'इट्' होता है।
- (औ) 'अञ्जू (अञ्ज) धातु रुदित् है अतः सामान्यतया इसके बाद वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' होता है, किन्तु 'सिच्' को नित्य 'इट्' होता है।
- (क) सामान्य रूप से वृत्, वृध्, शृध् और स्यन्द धातुओं के बाद वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर इन धातुओं के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक (जैसे 'सिच्' 'स्य' आदि) को 'इट्' नहीं होता।
- (ख) अनुदात्त होने के कारण साधारणतया यम्, रम्, नम् तथा आकारान्त धातुओं के पश्चात् वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है और उस 'इट्' के सन्नियोग से इन धातुओं को 'सक्' आगम होता है।
- (ग) वशादि कृत् प्रत्यय (जिसके आदि में 'वश्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) को 'इट्' नहीं होता है।
- (घ) ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स-इन दस कृत् प्रत्ययों को भी 'इट्' नहीं होता।
- (ङ) सामान्यतया ग्र, गृह् तथा दीर्घऋकारान्त और ऊकारान्त धातुओं के वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु 'सन्' प्रत्यय को 'इट्' नहीं होता।

(च) आर्धधातुक 'इट्' परे होने पर धातु के अन्तावयव आकार का लोप होता है।

गुण विचार

कित् और डित्

सामान्य रूप से जिन प्रत्ययों का ककार इत्संज्ञक होता है, उन्हें 'कित्' कहते हैं। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में कुछ प्रत्ययों को 'कित्' कहा गया है -

- (क) आशीर्लिङ् में 'यासुट्' आगम 'कित्' होता है।
- (ख) असंयोग से पर णल्, थल्, णल्-इन तीन प्रत्ययों को छोड़कर सभी लिट्-स्थानी प्रत्यय 'कित्' होते हैं।
- (ग) आत्मनेपद में ऋवर्ग से पर झलादि लिङ् और 'सिच्' (जिनके आदि में 'झल्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) 'कित्' होते हैं।
- (घ) आत्मनेपद में इक् (इ, उ, ऋ या ल) के समीप स्थित व्यंजन वर्ण से पर झलादि लिङ् और सिच् 'कित्' होते हैं।

'डित्' साधारणतया उन प्रत्ययों को कहते हैं जिनका डकार इत् होता है। इसके अलावा परिस्थिति वश कुछ अन्य प्रत्यय भी 'डित्' होते हैं, जैसे -

- (क) सभी अपित् सार्वधातुक प्रत्यय (जिनका प्रकार इत्संज्ञक न हो) 'डित्' होते हैं।
- (ख) विधिलिङ् में जो 'यासुट्' आगम होता है, वह भी 'डित्' होता है।
- (ग) 'गाङ्' आदेश और 'कुट्' आदि धातुओं से परे त्रित् तथा णित् भिन्न प्रत्यय 'डित्' होते हैं।
- (घ) 'ऊर्णु' धातु से परे इडादि प्रत्यय (जिनके आदि में 'इट्' आगम हो) विकल्प से 'डित्' होते हैं।
- (ङ) 'विज' धातु से परे इडादि प्रत्यय 'डित्' तुल्य होते हैं।

इन दोनों प्रत्ययों के मुख्य कार्य ये हैं -

1. कित् और डित् प्रत्यय परे होने पर यथाप्राप्त गुण और वृद्धि आदेश नहीं होते।

2. आर्धधातुक अजादि कित्-डित् प्रत्यय (जिनके आदि में कोई स्वरवर्ण हो, जैसे 'लिट्' में 'अतुस्' आदि) परे होने पर धातु के अन्तावयव आकार का लोप होता है।

3.8 सारांश

इस इकाई में कृदन्त प्रत्यय के कृत्य प्रक्रिया को सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक प्रयोगों का धातु के अर्थ एवं प्रत्ययों के स्वरूप के साथ ही विचार किया गया है। सर्वप्रथम प्रत्ययों का वर्गीकरण किया गया है, फिर सम्बन्धित सूत्र पर विचार किया गया है। उदाहरण के वैकल्पिक रूपों की निष्पत्ति का विचार ससूत्र है।

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. लघुसिद्धान्त कौमुदी	व्याख्याकार श्री महेशसिंह कुशवाह
2. लघुसिद्धान्त कौमुदी	व्याख्याकार श्री भीमचन्द्र सेन
3. लघुसिद्धान्त कौमुदी	व्याख्याकार श्री धरानन्द शास्त्री
4. अष्टाध्यायीभाष्य	लेखक श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
5. काशिक 'प्रथमोभागः'	वामनजयादित्यौ

3.10 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

1. कृदन्त प्रत्ययों का परिचय दें।
2. कृत्य प्रत्ययों के स्वरूप के दो उदाहरण दर्शावें।
3. अनीयर् प्रत्यय के दो उदाहरण दर्शावें।
4. ण्यत् प्रत्यय का उदाहरण ससूत्र प्रस्तुत करें।
5. मृत्यः, मार्ग्यः प्रयोग ससूत्र समझाएँ।
6. शिष्यः पद की व्युत्पत्ति ससूत्र समझाएँ।

7. 'मृजेर्विभाषा' सूत्र को सोदाहरण स्पष्ट करें।
8. 'अचो यत्' सूत्र को उदाहरण के साथ घटावें।
9. 'जेयम्' प्रयोग सिद्ध करें।
10. हार्यम् प्रयोग को सहायक सूत्रों के साथ सिद्ध करें।

खण्ड - 2

इकाई - 4

महाभाष्यम् (पस्पशाह्निकम्)

इकाई की रूपरेखा

- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 प्रस्तावना
- 4.3 महाभाष्यम्-पस्पशाह्निकम्-व्याख्या
- 4.4 पस्पशाह्निक - महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर
- 4.5 सारांश
- 4.6 उपयोगी पुस्तकें
- 4.7 स्वपरख पश्न/अभ्यास

4.1 उद्देश्य

1. महाभाष्य का सामान्य परिचय प्रदान करना ।
2. पस्पशाह्निक का शाब्दिक अर्थ ज्ञात करना ।
3. मूलसंस्कृतभाष्य की व्याख्यापूर्वक पस्पशाह्निक में आए मुख्य प्रकरणों यथा शब्द का स्वरूप, व्याकरण के प्रयोजन और महत्त्व इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालना ।

4.2 प्रस्तावना

महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य लिखकर वस्तुतः प्रथम वैयाकरण पाणिनि की महान धरोहर को सफलता के साथ आगे बढ़ाने का दुष्कर कार्य किया है। पतञ्जलि वस्तुतः बहुत मेधावी वैयाकरण थे।

पतञ्जलि कृत महाभाष्य में कुल चौरासी आह्निक हैं, उनमें प्रथम अध्याय के नव आह्निकों में प्रथम आह्निक प्रस्तावना के रूप में हैं। कोशकारों ने 'पस्पश' आ अर्थ प्रस्तावना, भूमिका, आमुख आदि किया है।

'अहना निवृत्तम् आह्निकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार एक दिन में जितना विषय पढ़ाया अथवा पढ़ा जा सकता है, उस विषय-विभाग का नाम आह्निक है। उक्त इकाई में महाभाष्य के प्रथम आह्निक 'पस्पशाह्निक' को विस्तार से प्रस्तुत किया जा रहा है।

4.3 पस्पशाह्निकम् 'अथ शब्दानुशासनम्'

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।

'अथ' शब्दों का अनुशासन (होगा)। 'अथ' यह शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहां से शब्दानुशासन या व्याकरण शास्त्र का आरम्भ हुआ समझना चाहिए।

'केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्- गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि - शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्न आयाहि वीतय इति ॥

किन शब्दों का (अनुशासन) ? लौकिक और वैदिक (शब्दों) का। उनमें लौकिक (शब्द) तो है- गौः (=गाय), अश्वः (=घोडा), पुरुषः (=आदमी), हस्ती (=हाथी), शकुनिः (=पक्षी), मृगः (=हरिण), ब्राह्मणः (=ब्राह्मण), इत्यादि। और वैदिक (शब्द) भी - 'शन्नो देवीरभिष्टये', 'इषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'अग्न आ याहि वीतये' ।

तात्पर्य ह है कि 'अथ' शब्द विषय-क्षेत्र का सूचक है। विषय-प्रवेश अर्थात् नए प्रसङ्ग को आरम्भ करने के लिए इसका प्रयोग होता है। जैसे योगदर्शन में 'अथ योगानुशासनम्', वेदान्तदर्शन में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। शब्द से यहां अभिप्राय है वाणी, भाषा, अनुशासन का अर्थ है नियमों का उपदेश, शिक्षण। भाषा के नियमों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र शब्दानुशासन कहलाता है। इसे

व्याकरण भी कहते हैं। पाणिनि के व्याकरण, 'अष्टाध्यायी', में जिसकी व्याख्या पतञ्जलि अपने इस ग्रन्थ 'महाभाष्य' में करने चले हैं, लौकिक संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत, दानों ही, प्रतिपाद्य विषय है। अत एव लौकिक भाषा में शब्दों के उदाहरण देने के पश्चात्, पतञ्जलि ने वैदिक भाषा के उदाहरण के रूप में क्रमशः अथर्ववेद, यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद के प्रथम मन्त्रों के प्रतीक उद्धृत किए हैं ।

शब्द परिभाषा - अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? किं यत् तत् सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? नेत्याह। द्रव्य नाम तत् ॥ यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति, स शब्दः ? नेत्याह। क्रिया नाम सा ॥ यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति, स शब्दः ? नेत्याह । गुणो नाम सः ॥ यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं, स शब्दः ? नेत्याह । आकृतिर्नाम सा ॥

शब्द की परिभाषा देते हुए पतञ्जलि कहते हैं - अब 'गौः' इस में शब्द कौन सा है ? गलकम्बल, पूँछ, कुहान, खुरों और सींगों वाला जो पदार्थ है, क्या वह शब्द है ? आचार्य कहते हैं, नहीं। वह तो द्रव्य (=वस्तु) है। पुनः पश्न है कि, क्या जो इंगित (=मुख-भंगिमा), चेष्टा या आंखों की झपक है, वह शब्द है ? तब आचार्य कहते हैं, नहीं । वह तो क्रिया है। तो क्या जो सफेद, नीला, भूरा, चितकबरा रंग है, वह शब्द है ? आचार्य कहते हैं, नहीं। वह तो गुण है। फिर प्रश्न किया जाता है कि क्या जो पृथक-पृथक पदार्थों में एकरूप है, जो उन पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता, जो सबमें समान रूप है, वह शब्द है ? तब आचार्य कहते हैं, नहीं। वह तो जाति है।

कस्तर्हि शब्दः ? येनाच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर- विषाणिनां संप्रत्ययो भवति, स शब्दः । अथवा- प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा-शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनि कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः ॥

तो शब्द क्या है ? उत्तर देते हैं-जिसके उच्चारण किए जाने से गलकम्बल, पूँछ, कुहान, खुरों और सींगों वाले (गो-द्रव्यों) का सम्बोध होता है, वह शब्द है। अथवा, लोक व्यवहार में पदार्थों का ज्ञान कराने वाली ध्वनि ही शब्द कहलाती है। जैसा कि ध्वनि करने वाले को ऐसा कहा जाता है- 'शब्द करो', 'शब्द मत करो', 'यह बालक शब्दकारी (=बोलने वाला) है'। इसलिए ध्वनि (भी) शब्द है।

शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ? रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् । रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्ण-विकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति ।

शब्दानुशासन (व्याकरण) के क्या प्रयोजन हैं ? उत्तर देते हैं - 1. रक्षा, 2. ऊह, 3. आगम, 4. लाघव और 5. सन्देह निवृत्ति, ये प्रयोजन हैं। पहला प्रयोजन

बताते हैं कि वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए, क्योंकि वर्णों के लोप (हटाने), आगम (आने, बढ़ जाने) तथा विकार (परिवर्तन, आदेश) को जानने वाला व्यक्ति ही वेदों की रक्षा उत्तम रीति से कर पाएगा ।

ऊहः खल्वपि - न सर्वेलिङ्गेन च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् । आगमः खल्वपि - 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति । प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।

दूसरा प्रयोजन बताते हैं कि ऊह (तर्कणा) भी (प्रयोजन है)। वेद में यन्त्रों को सब लिंगों और सब विभक्तियों में नहीं पढ़ा गया। यज्ञ में संलग्न मनुष्य को उन्हें जैसा चाहिए वैसा बदलना पड़ता है। व्याकरण न जानने वाला व्यक्ति उन्हें यथोचित रूप से बदल नहीं सकता। इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।

तीसरा प्रयोजन शास्त्र-विधान भी है- 'ब्राह्मण को निष्काम कर्तव्य से रूप में छः अंगों सहित वेद को पढ़ना और समझना चाहिए'। छः अंगों में व्याकरण मुख्य हैं और मुख्य (विषय) में किया हुआ प्रयत्न (अधिक) फल देता है।

“लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेयाः” इति । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम् । “असंदेहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति- 'स्थूलपृषती- माग्निवारुणीम- नड्वाहीमालभेते'ति । तस्यां सन्देहः - स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि वा पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि पूर्वपद- प्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुब्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ॥

चतुर्थ प्रयोजन बताते हैं कि लाघव (संक्षेप) के उद्देश्य से भी व्याकरण पढ़ना चाहिए। ब्राह्मण को शब्दों का ज्ञान अवश्य करना है, और व्याकरण के सिवाए अन्य किसी छोटे (संक्षिप्त) साधन से शब्द नहीं जाने जा सकते ।

पाँचवा प्रयोजन है कि सन्देह के निवारण के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए। याज्ञिक (कर्मकाण्डी) पढ़ते (कहते) हैं- 'स्थूलपृषती' गाय को अग्नि और वरुण के उद्देश्य से आलम्बन करे'। यहां पर ('स्थूलपृषती' पद के अर्थ में) सन्देह होता है - (शरीर पर) धब्बों वाली, मोटी गाय भी स्थूलपृषती है, अथवा (शरीर पर) मोटे धब्बों वाली गाय भी स्थूलपृषती है। व्याकरण न जानने वाला व्यक्ति स्वर की सहायता से (यहां पर अर्थ का) निश्चय नहीं कर पाता। यदि (स्थूलपृषती शब्द के) पूर्वपद (अर्थात् स्थूल) में अपना मूल स्वर है, तो यह बहुब्रीहि है। और यदि समास का अन्तिम स्वर उदात्त है, तो यह तत्पुरुष है।

कर्मधारय तत्पुरुष समास होने पर विग्रह होगा। 'स्थूला चाऽसौ पृषती च', अर्थात् 'धब्बों वाली और मोटी' गाय। बहुब्रीहि समास में विग्रह होगा 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः', अर्थात् 'मोटे धब्बों वाली' गाय।

शब्दानुशासनस्य प्रयोजनान्तराणि- इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि- तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्या पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण, इति। तेऽसुराः - 'तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः'। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। तेऽसुराः।। दुष्टः शब्दः - 'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' इति। दुष्टान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्। दुष्टः शब्दः।।

व्याकरण के ये और भी प्रयोजन हैं - 1. तेऽसुराः। 2. दुष्टः शब्दः। 3. यदधीतम्। 4. यस्तु प्रयुङ्क्ते। 5. अविद्वांसः 6. विभक्ति कुर्वन्ति। 7. यो वा इमाम्। 8. चत्वारि। 9. उत त्वः। 10. सक्तुमिव। 11. सारस्वतीम्। 12. दशम्यां पुत्रस्य। 13. सुदेवो असि वरुण। क्रमशः स्पष्ट करते हैं -

1. तेऽसुराः। वे असुर ('हेऽसुरः, हेऽसुरः' के स्थान पर) 'हेऽलयः, हेऽलयः' कहते हुए पराजित हुए। इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छन नहीं करना चाहिए, अर्थात् अपभाषण नहीं करना चाहिए। यह जो अपशब्द है, यह म्लेच्छ है। हम म्लेच्छ (=अशुद्धभाषी) न बनें, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।।

2. दुष्टः शब्दः। स्वर और वर्ण से अशुद्ध उच्चारण किए जाने पर दोषयुक्त शब्द उस (अपने वास्तविक) अर्थ को नहीं कह पाता। वह वाणीरूप वज्र अपने प्रयोक्ता यजमान को ही नष्ट कर देता है। जैसे स्वर के दोष के कारण 'इन्द्रशत्रु' शब्द ने किया। हम दोषयुक्त शब्द प्रयोग में न लाएं, अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए। 'इन्द्रशत्रु' उदाहरण को स्पष्ट करते हैं कि-

'इन्द्रशत्रु' शब्द में तत्पुरुष और बहुब्रीहि दोनों प्रकार से समास हो सकता है। 1. 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता' अर्थात् 'इन्द्र का नाश करने वाला' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास में अन्तोदात्त स्वर होना चाहिए। 2. 'इन्द्रशत्रुः शातयिता यस्य सः' अर्थात् 'इन्द्र के द्वारा नष्ट किए जाने वाला', यहां बहुब्रीहि समास में आद्युदात्त स्वर होगा। तैत्तिरीय संहिता में आख्यान इस प्रकार है। वृत्र ने इन्द्र को नष्ट करने के लिए 'इन्द्रशत्रुः वर्धस्व' से अभिचार करना चाहा। इस अभिप्राय से उसे तत्पुरुष समास के अनुसार अन्तोदात्त स्वर का प्रयोग करना चाहिए था। परन्तु प्रमाद से आद्युदात्त स्वर का उच्चारण हो गया, जिससे बहुब्रीहि समास के अनुसार अर्थ हुआ - 'हे अग्नि, तू ऐसा बन जिसका नाश करने

वाला इन्द्र हो।' अभिप्रेत अर्थ के विपरीत अर्थ वाला वाक्य बन जाने से अपने उद्देश्य की सिद्धि न होकर उनके विपरीत परिणाम निकला।

यद्धीतम् - 'यद्धीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्' ॥ तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्। यद्धीतम् ॥ यस्तु प्रयुङ्क्ते। यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥ कः ? वाग्योगविदेव। कुत एतत् ? यो हि शब्दान् जानात्यपशब्दा- नप्यसौ। यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। कुत एतत् ? भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा- गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः। अथ योऽवाग्योगविद्, अज्ञानं तस्य शरणम्।

व्याकरण के अन्य प्रयोजनों में से तीसरे का उदाहरण देते हुए कहा है, यद्धीतम्। 'जिसे पढ़ा है, पर समझा नहीं, केवल पाठमात्रसे उच्चारण कर दिया है, वह (शब्द) कभी (ज्ञान का) प्रकाश नहीं करता।' हम निरर्थक पाठमात्र न करते रहें, अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए।

चौथा प्रयोजन कहते हैं यस्तु प्रयुङ्क्ते। "अर्थात् (शब्दों के) प्रयोग-विशेष में कुशल जो व्यक्ति व्यवहार के समय शब्दों का यथायोग्य प्रयोग करता है, वाणी के प्रयोग को जानने वाला वह व्यक्ति परलोक में अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है, और अपशब्दों के कारण दूषित होता है। प्रश्न है कौन ? वाणी के प्रयोग करने वाला ही। यह कैसे ? स्पष्ट करते हैं कि- जो (शुद्ध) शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों (= अशुद्ध शब्दों) को भी जानता है। जैसे- (शुद्ध) शब्दों के जानने में धर्म (=अच्छाई) है, वैसे ही अशुद्ध शब्दों के जानने में अधर्म (= बुराई) भी है। प्रत्युत अधर्म अधिक होता है क्योंकि अपशब्द अधिक है, शब्द थोड़े हैं। एक एक शब्द के अपभ्रंश (= विकृत रूप) बहुत है। सो जैसे- गौ इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अनेक अपभ्रंश है।

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि, जो वाणी के प्रयोग को नहीं जानता, वह ? तब उत्तर देते हैं कि उसका अज्ञान उसका बचाव है।

विषम उपन्यासः। नात्यन्तायाऽज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। योह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्येपतितः स्यात् ॥ एवं तर्हि - सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः। कः ? अवाग्यो- गविदेव। अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य शरणम्। क्व पुररिदं पठितम् ? भ्राजा नाम श्लोकाः। किं च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् ? किं चातः ? यदि श्लोका अपि प्रमाणम्। अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति। 'यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डल महत्। पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत् ऋतुगतं नयेत्' ॥ प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः। यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते ॥

यह कथन ठीक नहीं। अज्ञान बिल्कुल बचाव नहीं कर सकता। जो अज्ञानवश ब्राह्मण को मार दे, या शराब पी ले, मैं समझता हूँ कि वह भी पतित होगा। तो ऐसे सही- वाणी के प्रयोग को जानने वाला वह व्यक्ति अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है, और (दूसरा) अपशब्दों के कारण दूषित होता है। कौन ? वाणी के प्रयोग को न जानने वाला ही। प्रश्न होता है कि, जो वाणी के प्रयोग को जानता है, वह ? तो उत्तर देते हैं कि, ज्ञान ही उसका संरक्षण है।

पर यह कहाँ कहा गया है ? तो उत्तर है कि, भाज नामक श्लोक हैं (उनमें)। तो शंका करते हैं कि, श्लोक भी प्रमाण होते हैं ? इससे क्या हुआ ? कहते हैं कि, यदि श्लोक भी प्रमाण है, तो यह श्लोक भी प्रमाण होना चाहिए- 'तांबे के रंग वाली (गहरे लाल रंग की) मटकियों का बड़ा समूह यदि पीए जाने पर स्वर्ग नहीं पहुंचा सकता, तो क्या (सौत्रामणि) यज्ञ में वह (थोड़ा सा सोमपान) स्वर्ग-प्राप्ति करा सकता है ? शंका का निवारण करते हैं कि, आपका यह वचन तो प्रमादपूर्ण है। प्रमादरहित जो वचन है, प्रमाण वही है।।

अविद्वांसः - 'अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्' ।। अभिवादे स्त्रीवन्माभूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। अविद्वांसः।। विभक्तिं कुर्वन्ति- याज्ञिकाः पठन्ति- 'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या' इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्। विभक्तिं कुर्वन्ति।। यो वा इमाम् 'यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आत्विंजीनो भवति'। आत्विंजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्। यो वा इमाम्।।

अब व्याकरणाध्ययन के पाँचवें अन्य प्रयोजन को कहते हैं- अविद्वांसः। 'जो अशिक्षित लोग प्रत्यभिवादन (= अभिवादन के उत्तर) में (अभिवादक के) नाम को प्लुत करना नहीं जानते, बाहर से आने पर ऐसे लोगों को भले ही 'अयम् अहम्' कह कर अभिवादन करे, जैसे स्त्रियों के लिए (किया जाता है)'। अभिवादन के विषय में हम स्त्रीवत् न बनें रहें, अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि, शिक्षित व्यक्ति के प्रतिदेवदत्त का अभिवादन-वाक्य होगा- 'अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः!' उसके उत्तर में शिक्षित व्यक्ति देवदत्त के नाम को प्लुत करके बोलेगा - 'आयुष्मान् भव भो देवदत्त ३!' परन्तु जो प्लुत का उच्चारण नहीं कर सकता उस व्यक्ति के प्रति देवदत्त अपना नाम लिये बिना ही अभिवादन करेगा - 'अभिवादये अयम् अहं भोः !' ।।

छटे प्रयोजन का उदाहरण देते हैं- "विभक्तिं कुर्वन्ति।" अर्थात् कर्मकाण्डी कहते हैं - 'प्रयाज-मन्त्रों का विभक्ति-सहित उच्चारण करना चाहिए' । व्याकरण के बिना प्रयाज-मन्त्रों का विभक्ति-सहित उच्चारण नहीं किया जा सकता।।

सातवाँ प्रयोजन बताते हैं- “यो वा इमाम्।” अर्थात् पद, स्वर, और अक्षर की दृष्टि से जो इस वाणी का ठीक उच्चारण करता है, वह आर्त्विजीन (= यज्ञ का अधिकारी) होता है। हम आर्त्विजीन बन सकें, अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए।।

चत्वारि - ‘चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोखीति महो देवो मर्त्या आविवेश’ ।। इति। चत्वारि श्रृङ्गाणि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः -त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोखीति शब्दं करोति। कुत एतत् ? रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्या आविवेशेति महान् देवः शब्दः। मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानविवेश।। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।।

अपर आह- ‘चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रिणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। ‘चत्वारि वाक्परिमिता पदानि’। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। ‘तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः’। मनस ईषिणो मनीषिणः। ‘गुहा त्रिणि निहिता नेङ्गयन्ति’ गुहायां त्रिणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्तीत्यर्थः। ‘तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति’। तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते। चतुर्थमित्यर्थः। चत्वारि ।।

आठवें प्रयोजन का उदाहरण देते हैं- “चत्वारि।” ‘इसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, और सात हाथ हैं। तीन प्रकार से बंधा हुआ वृषभ आवाज करता है। महान् देव मनुष्यों में प्रवेश किए हुए है।’ चार सींग चार पदसमूह हैं, वे हैं नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इसके तीन पैर तीन काल हैं भूत, भविष्यत्च और वर्तमान। दो सिर शब्द के दो स्वरूप हैं नित्य (मानस-रूप स्फोट) और अनित्य (वाचिकरूप ध्वनि)। सात हाथ इसकी सात विभक्तियां हैं। तीन प्रकार से बंधे हुए का अर्थ है तीन स्थानों में, अर्थात् छाती, कण्ठ और सिर में बन्धा हुआ। (कामनाओं का) वर्षण करने से वह वृषभ कहलाता है। रोखीति का अर्थ है आवाज करता है। यह कैसे? रु-धातु शब्द करने अर्थ में है। महान् देव-रूप शब्द मरणशील मनुष्यों में व्याप्त है। उस महान् देव के साथ हमारा सम्बन्ध हो, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।।

दूसरा कहता है-‘वाणी चार पदों में परिच्छिन्न है। उन (चार पदों) को मननशील ब्राह्मण जानते हैं। (उनमें से) तीन पद तो गुहा में स्थित होकर चेष्टा नहीं करते। वाणी के चौथे भाग को (साधारण) मनुष्य बोलते हैं।’ वाणी के चार परिच्छिन्न पद हैं चार पदसमूह नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। उन्हें मननशील ब्राह्मण जानते हैं। मन पर अधिकार रखने वाले मनीषी कहलाते हैं। ‘गुहा नेङ्गयन्ति’ का अर्थ है, तीन भाग तो गुहा में स्थित होकर चेष्टा

नहीं करते, अर्थात् झपकते नहीं। 'तुरीयं वदन्ति', वाणी वह चौथा भाग ही है, जो मनुष्यों में है, अर्थात् साधारण मनुष्यों के व्यवहार में आता है।।

उतत्वः - 'उत त्वः पश्यन्नददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विससे जायेव पत्य उशती सुवासाः।' 'उतत्वः' अपि खल्वेकः। पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनामिति। अविद्वांसमाहार्थम्। 'उतो त्वस्मै तन्वं विनसे' तनुं विवृणते। 'जायेव पत्य उशती सुवासाः'। तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते, एवं वाग्वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते। वाङ्मो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्। उतत्वः।।

नवें प्रयोजन का उदाहरण देते हैं- "उतत्वः।" 'कोई एक तो वाणी को देखता हुआ भी देख नहीं पाता, कोई उसे सुनता हुआ भी सुन नहीं पाता।' यह आधा भाग अविद्वान का वर्णन करता है। और किसी दूसरे के प्रति (यह वाणी) अपने आप को खोल देती है, अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। जैसे पति की कामना करती हुई, सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए, पत्नी अपने आपको पति के प्रति प्रकट कर देती है। इसी प्रकार वाणी भी अपने ज्ञाता के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। वाणी अपने स्वरूप को हमारे प्रति भी प्रकट करे, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।।

सक्तुमिव - 'सक्तुमिव तितउंना पुनन्तो य धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीनिहिताऽधिवाचि'।। सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति, ततवद्वा तुन्नवद् वा। धीरा ध्यानवन्तः। मनसा प्रज्ञानेन। 'वाचमक्रत' वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते सायुज्यानि जानते। क्व ? य एष दुर्गो मार्गः, एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते ? वैयाकरणः। कुत एतत् ? 'भद्रैषां लक्ष्मीनिहिताऽधिवाचि'। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीनिहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद् भासनात्परिवृद्धा भवति। सक्तुमिव।।

सारस्वतीम्- याज्ञिकाः पठन्ति - 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वती- मिष्टिं निर्वपेत्' इति। प्रायश्चित्तीया माभूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। सारस्वतीम्।।

दशम्यां पुत्रस्य-याज्ञिकाः पठन्ति-'दशम्युत्तरकाल पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्वयक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्', इति। ना चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। दशम्यां पत्रस्य।।

व्याकरण के अध्ययन का दसवाँ प्रयोजन स्पष्ट करते हैं- सक्तुमिव। जैसे सक्तुओं को चालनी से छानते हैं (सक्तू और छिलके को अलग-अलग करते हैं),

वैसे जहां बुद्धिमान मनुष्य अपनी बुद्धि से वाणी का विश्लेषण करते हैं, वहां वे मित्र बन कर (इस वाणीकी) मित्रता का अनुभव करते हैं। उनकी वाणी में कल्याणमयी शोभा स्थित रहती है। सक्तु शब्द सच् धातु से बना है, इसे साफ करना कठिन होता है। अथवा सक्तु शब्द कस् धातु के आद्यन्त-विपर्यय करने से बना है, यह खिला हुआ होता है। तितउ है चालनी, वा फैली हुई है, अथवा वह छिदों वाली है। धीर से अभिप्राय है ध्यान वाले। मनसा अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान से। वाचम् अक्रत का अर्थ हुआ वाणी को व्याकृत करते हैं, विश्लेषण करते हैं। यहां मित्र बनकर मित्रता का अनुभव करते हैं, सायुज्य को प्राप्त करते हैं। कहां ? यह जो एक (ज्ञान) से प्राप्य, वाणी का दुर्गम मार्ग है, वहां। तो वे है कौन ? वैयाकरण। यह कैसे ? इनकी वाणी में कल्याणमयी शोभा स्थित होती है। लक्ष्मी को इसलिए लक्ष्मी कहते हैं क्योंकि वह लक्षण करती है, चमकने से समृद्ध होती है।।

ग्यारहवाँ प्रयोजन बताते हुए उदाहरण देते हैं - “सारस्वतीम्”। कर्मकाण्डियों का पाठ है- ‘अग्नि का आधान करके, अपशब्द का प्रयोग हो जाने पर, प्रायश्चित्त के निमित्त सरस्वती का यज्ञ करे’। प्रायश्चित्त के भागी न बनें, अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए।।

बारहवें प्रयोजन का उदाहरण है - दशम्यां पुत्रस्य । याज्ञिकों का कथन है- ‘(पुत्र के जन्म से) दसवीं (रात) के बीतने पर (अर्थात् ग्यारहवें दिन) पुत्र का नामकरण करना चाहिए, उस नाम के आदि में सघोष वर्ण हो, मध्य में अन्तःस्थ वर्ण हो, वह नाम वृद्धि स्वर से युक्त न हो, तीन पीढ़ियों का स्मरण कराता हो, शत्रु के नाम के रूप में प्रसिद्ध न हो, दो अक्षरों वाला या चार अक्षरों वाला कृदन्त नाम रखना चाहिए, तद्धित नहीं। ऐसा नाम सबसे अधिक प्रशस्त होता है।’ व्याकरण के बिना कृदन्त या तद्धित समझे नहीं जा सकते।। अतः व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

सुदेवो असि- ‘सुदेवा असि वरुण, यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्यं सुषिरामिव’। ‘सुदेवो असि वरुण’ सत्यदेवोऽसि। ‘यस्य ते सप्त सिन्धवः’ सप्त विभक्तयः। ‘अनुक्षरन्ति काकुदम्’ तालु। काकुर्जिह्वा, सास्मिन्नुद्यित इति काकुदम्। ‘सूर्यं सुषिरामिव। तद्यथा शोभनामूर्मि सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, एवं ते सप्त सिन्धवः सप्तविभक्तयसस्ताव- नुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्। सुदेवो असि।।

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजन मन्वाख्यायते, न पुनरन्यदपि किञ्चित् ? ‘ओम्’ इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति ।

पुराकल्प एतदासीत्-संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थान- करण-नादाऽनुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति- ‘वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः, लोकाच्च

लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्' इति।। तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद् भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे - इमानि प्रयोजना- न्यध्येयं व्याकरणम् - इति।

व्याकरणाध्ययन का तेरहवाँ प्रयोजन स्पष्ट करते हैं - “सुदेवो असि।” हे वरुण, तु सुदेव, अर्थात् सत्यदेव है तेरी सात नदियां, अर्थात् सात विभक्तियां, तालु में बहती हैं। काकुद तालु है, क्योंकि काकु का अर्थ है जिह्वा, उसे इस (तालु) में ऊपर लगाया जाता है। सूर्य सुषिराम् इव- जिस प्राकर अग्नि छिद्रों वाले लोहे के पिण्ड के अन्दर घुसकर उसे जलाकर शुद्ध कर देती है, उसी प्रकार तेरी सात नदियां अर्थात् सात विभक्तियां तालु को शुद्ध कर देती हैं। इसी से तू सत्यदेव है। हम भी सत्यदेव बनें, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।।

पश्न उपस्थित होता है कि, क्या कारण है कि केवल व्याकरण पढ़ने वालों के लिए ही प्रयोजन बताए जाते हैं, किसी और विषय को पढ़ने वालों के लिए नहीं ? (वेद पढ़ने वाले) ‘ओम्’ कहकर ‘शम्’ (शन्नो देवीः) आदि मन्त्रों को प्रपाठक अनुसार पढ़ना शुरु कर देते हैं।

उत्तर देते हैं कि, पुरातन काल में ऐसा था, (उपनयन और वेदारम्भ) संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण व्याकरण पढ़ा करते थे। वर्णों के उच्चारण-स्थान (कण्ठ, तालु आदि), करण (=साधन, जिह्वा आदि) और अनुप्रदान (=प्रयत्न) को जान लेने पर, उन्हें वैदिक शब्दों का ज्ञान कराया जाता था। पर आजकल वैसा नहीं। आजकल पहले ही वेद के वक्ता बन जाते हैं और सोचते हैं कि, वेद से हमने वैदिक शब्द जान लिये हैं और लोक से लौकिक शब्द। अब व्याकरण पढ़ने का प्रयोजन नहीं। इस प्रकार के विपरीत विचारों वाले उन विद्यार्थियों के लिए मित्र बनकर आचार्य इस शास्त्र का उपदेश कर रहे हैं। इन प्रयोजनों के कारण व्याकरण को पढ़ना चाहिये ।

(अनुशासन-रीति-निरुपणम्)

उक्तःशब्दः । स्वरुपमप्युक्तम्। प्रयोजनान्यप्युक्तानि। शब्दानु- शासनमिदानीं कर्त्तव्यम्। तत्कथं कर्त्तव्यम् ? किं शब्दोपदेशः कर्त्तव्यः, आहोस्विदप- शब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति ? अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। ‘पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः’ इत्युक्ते गम्यते एतद् - अतोऽन्येऽभक्ष्याः इति। अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा ‘अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः’ इत्युक्ते गम्यत एतद्- आरण्यो भक्ष्य इति। एवमिहापि। यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दाः इति। अथाप्यपदोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूप दिष्टेषु गम्यत एतत्- गौरित्येष शब्द इति।

अनुशासन-रीति का निश्चय करते हुए कहते हैं कि, इस शब्द का प्रतिपाद्य विषय, लौकिक और वैदिक शब्द बता दिया है। उस (शब्द) का स्वरूप भी कह दिया है। प्रयोजन भी समझा दिए हैं। अब शब्दों का अनुशासन अर्थात् = नियम- प्रतिपादन करना है। सो कैसे करना चाहिए ? क्या (शुद्ध) शब्दों का उपदेश किया जाए, अथवा अशुद्ध शब्दों को बताया जाए, अथवा दोनों का ही निर्देश किया जाए ? दोनों में से एक का उपदेश करने से ही काम चल जाएगा। जैसे भक्ष्य का नियम करने से अभक्ष्य का निषेध (स्वयं) मालूम पड़ जाता है। 'पंजों वाले (=पांच नाखुनों वाले) पांच ही प्राणी खाने योग्य है'- ऐसा कहने पर यह (स्वतः) ज्ञात हो जाता है कि इनके अतिरिक्त प्राणी नहीं खाने चाहिए। अथवा अभक्ष्यों का निषेध करने पर (स्वतः ही) भक्ष्यों का नियम (ज्ञात) हो जाता है। जैसे, 'गांव का मुर्गा नहीं खाना चाहिए, गांव का सुअर नहीं खाना चाहिए' यह कहे जाने पर (अपने आप) जाना जाता है कि जंगली खा लेना चाहिए। इसी प्रकार यहां पर भी। यदि शुद्ध शब्दों का उपदेश कर दिया जाता है, 'गौ' ऐसा बता देने पर (अपने आप) यह मालूम पड़ जाएगा कि 'गावी' आदि अशुद्ध शब्द हैं। और यदि अशुद्ध शब्दों को गिना दिया जाए, तो गावी आदि के बता देने पर (स्वतः) यह ज्ञात हो जाएगा कि 'गौ' यह शब्द शुद्ध है।

किं पुनरत्र ज्यायः ? लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। लघीयाञ्छब्दो- पदेशः। गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा-गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।। इष्टान्वाख्यानां खल्वपि भवति। अथैतस्मिन् शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः ? गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः ? नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपद- पाठः। एवं हि श्रूयते- 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदो- क्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम'। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे ! यः सर्वथा चिरञ्जीवति वर्षशतं जीवति। चतुभिश्च प्रका- रेर्विद्योपयुक्ता भवति- आगमकालेन, स्वाध्याय- कालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहार- कालेनति। तत्र चास्यागमकाले- नैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। कथं तर्हिमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किंचित्सामान्य- विशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् ? येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघानु प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः। कथंजातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः, कथं- जातीयकोऽपवादः ? सामान्येनात्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा- 'कर्मण्यण'। तस्य विशेषणाऽपवादः। तद्यथा- 'आतोऽनुपसर्गे कः'।

तो फिर इन दोनों में से कौन-सा (उपाय) बढ़िया है ? लाघव (=छोटा होने) के कारण शुद्ध शब्दों का उपदेश (ही बढ़िया उपाय) है। शुद्ध शब्दों का उपदेश (अशुद्ध शब्दों को गिनाने की अपेक्षा) अधिक छोटा है। अशुद्ध शब्दों का उपदेश (अपेक्षाकृत) बड़ा है। एक-एक शुद्ध शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं। जैसे -

‘गौ’ इस शुद्ध शब्द के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका, इस प्रकार के कई अपभ्रंश हैं।

इसके अतिरिक्त (शुद्ध शब्दों के उपदेश से) अभीष्ट (विषय) का भी वर्णन हो जाता है।

अब शुद्ध शब्दों का उपदेश मान लेने पर, क्या शब्दों के ज्ञान के लिए प्रत्येक पद को पढ़ना होगा ? गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः, इस प्रकार (एक-एक करके) सब शब्दों को कहना होगा ? (आचार्य) कहता है, नहीं। प्रत्येक पद का पढ़ लेना शब्दों के ज्ञान का कोई उपाय नहीं।

ऐसा सुनने में आता है - ‘(देवगुरु) बृहस्पति ने एक हजार दिव्य वर्षों तक इन्द्र को एक-एक पद कहकर शब्दों का पारायण पढ़ाया, पर समाप्ति तक न पहुंचा पाया।’ (देवगुरु) बृहस्पति सा पढ़ने वाला हो, (देवराज) इन्द्र जैसा पढ़ने वाला हो, हजार दिव्य वर्ष पढ़ने का समय हो, तो भी पाठ समाप्ति तक न पहुंच पाया। आजकल का तो कहना ही क्या ! जो बहुत जीता है, वह सौ बरस ही जी पाता है। चार प्रकार के विद्या का उपयोग होता है - प्राप्ति (=गुरु से पढ़ने) के समय, स्वयं अध्ययन (=आवृत्ति) करते समय, पढ़ते समय और व्यवहार (=यज्ञादि कर्मों में प्रयोग) के समय। उस (प्रतिपद पढ़ने की) अवस्था में तो इस (विद्यार्थी) की सारी आयु गुरु से पढ़ते-पढ़ते ही समाप्त हो जाएगी। अतः प्रत्येक पद का पाठ शब्दों के ज्ञान का उपाय नहीं हो सकता।

तो फिर इन शब्दों का ज्ञान किस प्रकार किया जाए ? सामान्य और विशेष जताने वाला कोई साधन अपनाना चाहिए, जिससे थोड़े से परिश्रम से बड़ी-बड़ी शब्द-राशियों का जान जाए। वह (साधन) क्या हो सकता है ? उत्सर्ग (=सामान्य नियम,विधि) और अपवाद (=विशेष नियम)। कोई उत्सर्ग बनाना चाहिए, और कुछ अपवाद। किस प्रकार का उत्सर्ग और किस प्रकार का अपवाद ? सामान्य नियम से उत्सर्ग बनाना चाहिए। जैसे - ‘कर्मण्यण्’ (पा. 3. 2.1)। और विशेष नियम से उसका अपवाद (बनाना चाहिए)। जैसे- ‘आतोऽनुपसर्गे कः’ (पा. 3.2.3)

तात्पर्य यह है कि, पहले सूत्र (पा. 3.2.1) से सामान्य नियम बनाया गया है कि कर्म उपपद होने पर धातु मात्र से ‘अण्’ प्रत्यय हो, परन्तु धातु यदि उपसर्ग-रहित और आकारान्त है तो ‘अण्’ प्रत्यय न होकर ‘क’ प्रत्यय हो, यह विशेष नियम दूसरे सूत्र (पा. 3.2.3) से बना दिया गया है। दोनों सूत्रों के उदाहरण क्रम से ये हैं - कुम्भं करोति = कुम्भ+कृ+अण्= कुम्भकारः। कम्बलं ददाति = कम्बल+दा+क = कम्बलदः।

पदानां जाति-व्यक्तिवाचकत्वनिर्णयः- किं पुरनाकृतिः पदार्थः, आहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह। कथं ज्ञायते ?

उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि-आकृति पदार्थे मत्वा - 'जात्या-ख्यायामे-कस्मिन्बहु- वचनमन्यतरस्याम्'। इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा 'सरुपाणाम्' इत्येकशेष आरभ्यते।

शब्दस्य नित्यत्वाऽनित्यत्व-विचारः किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्विकार्यः ?

संग्रह एतत्प्राधान्येन परिक्षितम्- नित्यो वां स्यात्कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः। प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः- यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।

शब्दों की जाति-वाचकता या व्यक्ति-वाचकता का निश्चय करते हुए कहते हैं कि, क्या पद का अर्थ जाति है या व्यक्ति (द्रव्य)? (वैयाकरण) कहता है- दोनों (जाति और व्यक्ति)। पुनः प्रश्न होता है कि, यह कैसे कहा जाता है ?

आचार्य (पाणिनि) ने दोनों प्रकार से (अर्थात् पद को जाति-वाचक और व्यक्ति-वाचक दोनों तरह मानकर) सत्र बनाए हैं। जाति को पदार्थ मानकर 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचन- मन्यतरस्याम्' (पा. 1.2.58) यह कहा है। और व्यक्ति को पदार्थ मानकर 'सरुपाणामेकशेष एक विभक्तौ (पा.1.2.64) सूत्र से एकशेष का विधान किया है।

अब शब्द के नित्य या अनित्य होने पर विचार करते हैं कि, क्या शब्द नित्य है या कार्य (उत्पाद्य, अनित्य) ?

व्याडि-रचित 'संग्रह'-गन्थ में इस पर मुख्य रूप से विचार हुआ है कि (शब्द) नित्य है या अनित्य। यहां पर (दोनों पक्षों में) दोष कहे हैं और (शास्त्र-प्रवृत्ति के) प्रयोजन भी कह दिए हैं। वहां पर यह निर्णय लिया गया है कि शब्द चाहे नित्य हो चाहे अनित्य, दोनों ही अवस्थाओं में उसका लक्षण (शास्त्र-विधान) करना ही चाहिए।

कथं पुररिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ?

॥ सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ॥

सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति। अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः ? नित्यपर्यायवाची सिद्ध- शब्दः। कथं ज्ञायते ? यत्कूट- स्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। तद्यथा-सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति। ननु च भौः कार्येष्वपि वर्तते। तद्यथा- सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति। यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्, न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति ? संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावात्मन्यामहे नित्य- पर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव। अथवा सन्त्येक- पदान्यप्यवधारणानि। तद्यथा-अब्धक्षो वायुभक्ष इति - अप एवं भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते। एवमिहापि सिद्ध एव, न साध्य इति।

अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः - अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति। तद्यथा-देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति।

अथवा “व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्” इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि, भगवान पाणिनि आचार्य का शास्त्र कैसे (=किस पक्ष को आधार मानकर) चला है? उत्तर देते हैं कि ‘शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के सिद्ध अर्थात् नित्य रहते हुए।’ ‘सिद्ध’ शब्द का अर्थ क्या है? ‘सिद्ध’ शब्द ‘नित्य’ का समानार्थक है।

यह कैसे मालूम पड़ता है? कहते हैं कि, यह शब्द एक स्वरूप में स्थित, अपरिवर्तनशील भावों अर्थात् पदार्थों के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे-‘द्युलोक सिद्ध है’, ‘पृथिवी सिद्ध है’, ‘आकाश सिद्ध है’ पुनः कहते हैं कि अरे, यह शब्द अनित्यों के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे- ‘भात सिद्ध हो गया’ (बन गया), ‘दाल सिद्ध हो गई’ (बन गई), ‘लप्सी सिद्ध हो गई’ (बन गई)। चूंकि (यह शब्द) अनित्यकार्यों के लिए भी प्रयुक्त होता है, तो यहां कैसे इसे नित्य का समानार्थक माना जाए, और अनित्य के अर्थ में नहीं? समाधान करते हैं कि, ‘संग्रह’ ग्रन्थ में अनित्य का प्रतियोगी अर्थात् विपरीतार्थक होने से वहां यह नित्य का समानार्थक लिया जाता है। यहां भी वही (अर्थ) है। अथवा अकेले पद से भी अवधारण (नियमन) होता है। जैसे- ‘अब्भक्ष’ और ‘वायुपक्ष’ से ‘पानी ही पीता है’, ‘हवा ही खाता है’ यहा ज्ञात होता है। इसी प्रकार यहां पर भी, ‘वह सिद्ध ही है, साध्य (=कार्य) नहीं, (ऐसा ज्ञात होता है)। अथवा यहां पर पूर्वपद का लोप समझना चाहिए। ‘अत्यन्त (=बिल्कुल) सिद्ध’ को (केवल) “सिद्ध’ शब्द (से ही कह दिया गया है)। जैसे - देवदत्त को (केवल) दत्त, और सत्यभामा को (केवल) भामा (कह देते हैं)। अथवा व्याख्या (स्पष्टीकरण) से विशेष समझाया जा सकता है, केवल सन्देह हो जाने से (कोई नियम) अनियम नहीं हो जाता। हम ऐसी व्याख्या या स्पष्टीकरण कर देंगे कि (यहां पर सिद्ध शब्द को) नित्य का समानार्थक समझा जाए।

किं पुनरनेन वर्ण्येन। किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसंदेहः स्यात्? मङ्गलार्थम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि च। अध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति। अयं खलु नित्यशब्दो नाऽवश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। किं तर्हि? आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते। तद्यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति। यावताऽऽ-भीक्ष्ण्येऽपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात्-‘व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्’ इति। पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति। अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः ॥

तो फिर ऐसे शब्द से क्या लाभ जिसका इतना वर्णन (=स्पष्टीकरण) करना पड़े ? क्यों न बड़े खुले गले से नित्य शब्द ही कह डाला, जिसके कहने से सन्देह ही न रहता ?

मङ्गल के लिए सिद्ध शब्द का प्रयोग किया है। मङ्गल चाहता हुआ आचार्य (कात्यायन) अपने महान् ग्रन्थ (वार्तिक-समूह) के मङ्गल के लिए आदि में 'सिद्ध' शब्दका प्रयोग करता है, क्योंकि मङ्गल से प्रारम्भ होनेवाले शास्त्र प्रचलित होते हैं, इनके पढ़ने वाले वीर (=शास्त्रार्थ में विजेता) और चिरायु होते हैं। (इस वार्तिक शास्त्र के) पढ़ने वाले सफल मनोरथ हो सकें (अतः वार्तिककार कात्यायन ने अपना ग्रन्थ 'सिद्ध' शब्द से प्रारम्भ किया है)। और यह नित्य शब्द भी एकरूप में स्थित, अपरिवर्तनशील पदार्थों के लिए ही प्रयुक्त होता हो, यह आवश्यक नहीं। प्रश्न है तो क्या कहते हैं ? कि, बार-बार या लगातार अर्थ में भी (यह नित्य शब्द) प्रयुक्त होता है। जैसे- नित्य-प्रहसितः (=बार-बार हंसने वाला), नित्य-प्रजल्पितः (=लगातार बोलने वाला)। चूंकि यह शब्द बार-बार और लगातार अर्थ में भी है, वहां भी इसी से काम चलेगा- 'व्याख्या से विशेष ज्ञान होता है, सन्देहमात्र से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता'।

परन्तु आचार्य (कात्यायन) समझते हैं कि आदि में प्रयुक्त हुआ 'सिद्ध' शब्द मङ्गल के लिए भी रहेगा और उसे नित्य का समानार्थक भी बता सकूंगा। अतः सिद्ध शब्द का ही प्रयोग किया है, नित्य शब्द का नहीं।

अथ कं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते- 'सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ? आकृति मित्याह । कुत एतत् ? आकृतिर्हि नित्या, द्रव्यमनित्यम् । अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः ? सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति । नित्यो ह्यर्थव- तामर्थैरभिसम्बन्धः ॥

अथवा द्रव्य एव पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः- सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति । द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या ।

कथं ज्ञायते ? एवं हि दृश्यते लोके मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते । तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः । आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ॥

अब किसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया गया है- 'शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के नित्य होने पर ? मीमांसक कहता है, आकृति को। यह कैसे ? क्योंकि आकृति नित्य है, और द्रव्य अनित्य है। अब यदि द्रव्य को पदार्थ मान लिया जाए, तो विग्रह कैसे करना चाहिए ? 'शब्द और उसका अर्थ

से सम्बन्ध नित्य होने पर' - ऐसा। सार्थक शब्दों का अपने अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य होता है। अथवा द्रव्य को भी पदार्थ मानते हुए यह विग्रह उचित है- 'शब्द, अर्थ और उन दोनों के सम्बन्ध के नित्य होने पर'। द्रव्य तो नित्य होता है, आकृति अनित्य होती है। प्रश्न है कि

यह कैसे मालूम होता है? तो कहते हैं कि संसार में ऐसा देखते हैं, मिट्टी किसी आकृति से जुड़ कर पिण्ड (गोला) बन जाती है। पिण्ड आकृति को मसल कर मटकियां बन जाती हैं। मटकियों की आकृति को मिटा कर कुण्डिकाएं बना ली जाती हैं। उसी प्रकार सोना किसी आकृति से युक्त होकर डली बन जाता है। डली की आकृति को हटाकर रुचक बनाए जाते हैं, रुचकों की आकृति को मिटाकर कड़े बना लिए जाते हैं। कड़ों की आकृति को हटाकर स्वस्तिक बनाए जाते हैं। तदनन्तर गलाया हुआ सोना फिर डली बनकर, दोबारा किसी दूसरी आकृति से युक्त होकर, खैर लकड़ी के धधकते अंगारों के समान चमक वाले कुण्डलों के रूप में बदल जाता है। आकृति (बदल-बदल कर) भिन्न-भिन्न हो जाती है, परन्तु द्रव्य वही रहता है। आकृति-विशेष के नष्ट होने पर द्रव्य ही बचा रहता है।

आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः -सिद्धे शब्दे अर्थे समब्धे चति। ननु चोक्तं- आकृतिरनित्या, इति। नैतदस्ति, नित्याऽऽकृतिः। कथम् ? न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते। अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्-ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्धयव्यययोगि यत्तन्नित्य -मिति। तदपि नित्यं तस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम् ? तद्भावस्तत्त्वम्। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते।। अथवा किं न एतेन-इदं नित्यमिदमनित्यमिति। यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते-सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

लोकव्यवहारस्य निर्णायकत्वेऽपि शास्त्रज्ञानस्य उपयोगिता कथं पुनर्ज्ञायते - सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति ?

॥ लोकतः ॥

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृतौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावतेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा- घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाऽऽह- 'कुरु घटं, कार्यमनेन करिष्यामीति', न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाऽऽह-'कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्ये' इति, तावत्ये- वार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते।।

आकृति को पदार्थ मानकर भी यही विग्रह उचित है- 'शब्द, अर्थ और उन दोनों के सम्बन्ध के नित्य होने पर'। किन्तु अभी कहा था -'आकृति अनित्य है'। बात यह नहीं। आकृति तो नित्य है। कैसे ? आकृति कहीं एक द्रव्य में उपरत हो जाने अर्थात् हट जाने से सब स्थानों से तो उपरत नहीं हो जाती।

दूसरे द्रव्यों में तो उपलब्ध होती है। अथवा नित्य का इतना ही लक्षण नहीं है— जो स्थिर, एक स्वरूपावस्थित, अपरिवर्तनशील, अपचय-उपचय-विकारों से रहित, उत्पत्ति-बुद्धि- विनाश से रहित हो, वही नित्य है। वह भी नित्य होता है जिसमें तत्त्व नष्ट न हो। तो तत्त्व क्या है? किसी वस्तु का अपनापन अर्थात् उसका स्वभाव, धर्म या तत्त्व है। आकृति में भी तत्त्व नष्ट नहीं होता। अथवा हमें इससे क्या- यह नित्य है या अनित्य? जो भी नित्य है उसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है- ‘शब्द, अर्थ और उन दोनों के सम्बन्ध के नित्य होने पर’।

लोक-व्यवहार के निर्णायक होने पर भी शास्त्र-ज्ञान की उपयोगिता बताते हुए कहते हैं कि यह कैसे ज्ञात होता है कि शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है? उत्तर देते हैं- लोक-व्यवहार से। क्योंकि लोक में उस उस अर्थ को लेकर शब्दों का प्रयोग करते चले जाते हैं। उन शब्दों के निर्माण में यत्न नहीं करना पड़ता। परन्तु जो पदार्थ साध्य होते हैं, उनके बनाने में यत्न किया जाता है। जैसे- घड़े से काम करना चाहता हुआ मनुष्य कुम्हार के घर जाकर कहता है- ‘घड़ा बनाओ, मैंने इससे काम करना है’। परन्तु उस प्रकार शब्दों का प्रयोग करना चाहने वाला व्यक्ति वैयाकरण के घर जाकर नहीं कहता - ‘शब्द बनाइए, मैं उनका प्रयोग करूंगा’। झट ही अर्थ का (ध्यान में) रखकर शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणं, किं शास्त्रेण क्रियते ?

॥ लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः॥

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते॥ किमिदं धर्मनियम इति ? धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः॥

॥ यथा लौकिकवैदिकेषु॥

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये ‘यथा लौकिकवैदिकेषु’ इति प्रयुञ्जते॥ अथवा युक्त एवत्र तद्धितार्थः। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावद् ‘अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर’ इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वामांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्, तत्र नियमः क्रियते, इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिति॥ तथा खेदात्स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते- इयं गम्येयमगम्येति।

वेदे खल्वपि - ‘पयोव्रतो ब्राह्मणो, यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षाव्रतो वैश्यः’ इत्युच्यते। व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालिमांसादीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते॥ तथा ‘बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्’ इत्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन यत्किंचिदेव काष्ठमुच्छित्या-

ऽनुष्ठित्य वा पशुरनुबन्धुम्। तत्र नियमः क्रियते। तथा- ‘अग्नौ कपालान्य-
धिश्रित्याऽभिमन्त्रयते- ‘भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्’ इति। अन्तरेणापि
मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि संतापयति। तत्र च नियमः क्रियते- एवं
क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।। एवमिहापि समानायामवर्थाऽवगतौ शब्देन
चाऽपशब्देन च धर्मनियमः क्रियते- शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं
क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।

यदि लोकव्यवहार ही इन (शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध) में प्रमाण है,
तो शास्त्र का क्या काम है ? लोकव्यवहार से अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग
सिद्ध होने पर (भी) शास्त्र से धर्म अर्थात् औचित्य का नियमन होता है।

यह धर्म नियम क्या है ? धर्म के लिए नियम, धर्म-रूपी नियम अथवा
धर्म से प्रयोजित नियम धर्म-नियम कहलाता है। जैसे लोक और वेद में।
दक्षिणप्रदेशवासी तद्धित के प्रयोग में अधिक रुचि रखते हैं ‘लोके वेदे’ कहने के
स्थान पर ‘लौकिक-वैदिकेषु’ ऐसा प्रयोग कर दिया है। अथवा यहां पर तद्धित
का प्रयोग उचित ही है। असका अभिप्राय है- जैसे लोक के और वेद के दृष्टांतों
में। जैसे लोकमें कहा जाता है- ‘गांव का मुर्गा अभक्ष्य है, गांव का सूअर
अभक्ष्य है’। भोजन तो भूख मिटाने के लिए लिया जाता है। कुत्ते के मांस से
भी भूख मिटाई जा सकती है। पर इस विषय में नियमन (नियन्त्रण) किया
जाता है- यह खाना चाहिए और यह नहीं। इस प्रकार राग के कारण
स्त्री-समागम किया जाता है। समागम के लिए उचित अथवा अनुचित स्त्री राग
की तृप्ति तो एक-सी है। पर इस विषय में नियम बनाया जाता है- यह
समागम के योग्य है और यह अयोग्य।

वेद में भी- ‘(यज्ञ के अवसर पर) ब्राह्मण दूध का आहार करे, क्षत्रिय
लप्सी का और वैश्य पनीर का’ -ऐसा कहा गया है। आहार तो खाने के लिए
ही ग्रहण किया जाता है। मांसौदन का आहार भी लिया जा सकता है। पर इस
बारे में नियम बना दिया जाता है। उसी प्रकार, विधान किया जाता है कि ‘यूप
विल्व लकड़ी का बना हो, या खदिर लकड़ी का’। यूप तो पशु को बांधने के
लिये ही होता है। जिस किसी लकड़ी का छीलकर, या छीले बिना ही, उससे
पशु बांधा जा सकता है। पर उस विषय में नियम कर दिया जाता है। उसी
प्रकार, ‘आग पर हांडियों को रखकर मन्त्र का उच्चारण करता है - “भृगु और
अङ्गिरस् ग्रोत्र के ऋषियों के तेज की गरमी से तपो”।’ जलाने की क्रिया
करने वाला अग्नि, मन्त्रों के बिना भी, हांडियों को गरम कर देता है। फिर भी
उस विषय में नियम बनाया जाता है - ‘इस प्रकार से किया जाना लाभकारी
होता है’। इसी प्रकार यहां पर भी शब्द के द्वारा या अपशब्द के द्वारा एक
समान अर्थबोध होन पर भी धर्मनियम किया जाता है कि शब्द से ही अपने
अभिप्राय को कहना चाहिए, अपशब्द से नहीं। इस प्रकार से किया जाना
श्रेयस्कर होता है।

॥ अस्त्यप्रयुक्ता ॥

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा- ऊष, तेर, चक्र, पेचेति। किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः ? प्रयोगाद्धि भवान् शब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। ये इदानीमप्रयुक्ता, नामी साधवः स्युः॥

इदं तावद्विप्रतिषिद्धम्, यदुच्यते -‘सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता’ इति। यदि सन्ति, नाऽप्रयुक्ताः। अथाऽप्रयुक्ता, न सन्ति। सन्ति चाऽप्रयुक्ताचेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुज्जान एव खलु भवानाह- ‘सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता’ इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् ? नैतद्विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद् ब्रूमः, यदेताञ्छास्त्रविदः शास्त्रेणाऽनुविदधते। अप्रयुक्ता इति ब्रूमः, यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते-कश्चेदानीमन्यो भवज्जा- तीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति। न ब्रूमोऽस्मा- भिरप्रयुक्ता इति। किं तर्हि ? लोकेऽप्रयुक्ता इति। ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके। अभ्यन्तरोऽहं लोके, नत्वहं लोकः ॥

अप्रयुक्त (शब्द भी) है। निश्चय ही (ऐसे) शब्द है जो प्रयोग में नहीं आते। सो जैसे - ऊष, तेर, चक्र, पेच इत्यादि। प्रश्न है कि इससे क्या हुआ यदि अप्रयुक्त शब्द भी है ?

लोक में प्रयोग से ही आप शब्दों के शुद्ध होने का निश्चय करते हैं। अब जो शब्द अप्रयुक्त है वे सम्भवतः शुद्ध न हों। ‘शब्द हैं और अप्रयुक्त है’ यह कहना परस्पर विरोधी है। (शब्द) यदि हैं, तो अप्रयुक्त नहीं। और यदि अप्रयुक्त है, तो वे हैं ही नहीं। वे शब्द हैं भी और अप्रयुक्त भी है - यह परस्पर विरोधी बात है। शब्दों का प्रयोग करते हुए ही आपने कहा कि (ये) शब्द अप्रयुक्त हैं। इस समय आप जैसा और कौन पुरुष शब्दों को प्रयोग करने में कुशल होगा ?

यह परस्पर विरोधी वचन नहीं। जब हम कहते हैं कि शब्द हैं, तो अभिप्राय है कि वैयाकरण अपने शास्त्र में इनकी व्याख्या करते हैं। इन्हे अप्रयुक्त कहने से हमारा अभिप्राय है कि लोक में इनका व्यवहार नहीं होता। यह कहना कि ‘इस समय आप जैसा और कौन पुरुष शब्दों को प्रयोग करने में कुशल होगा’ इसका उत्तर यह है कि हम यह तो नहीं कहते कि हमने इनका प्रयोग नहीं किया। तो (आप) क्या (कहते हैं) ? क्या ये लोक में प्रयुक्त नहीं होते ? फिर आप भी तो लोक के भीतर हैं। उत्तर देते हैं कि, मैं लोक के भीतर भले हूँ, पर लोक तो नहीं ।

॥ अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात् ॥

अस्त्यप्रयुक्तः, इति चेत्। तन्न। किं कारणम् ? अर्थे शब्दप्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्थाः, येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते ॥

॥ अप्रयोगः प्रयोगाऽन्यत्वात् ॥

‘अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः ? ‘प्रयोगाऽ- न्यत्वात्’। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्या-ञ्छब्दान् प्रयुञ्जते। तद्यथा उषेत्यस्य शब्दस्यार्थे ‘क्व यूयमुषिताः’ तेरेत्यस्यार्थे - क्व यूयं तीर्णाः’, चक्रेत्यस्यार्थे - ‘क्व यूयं कृतवन्तः’। पेचेत्यस्यार्थे - ‘क्व यूयं पक्ववन्त’ इति।

॥ अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् ॥

यद्यप्यप्रयुक्ताः, अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनाऽनुविधेयाः। तद्यथा दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च। न चाऽद्यत्वे कश्चिदप्याहरति, केवलमृषिसंप्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ॥

॥ सर्वे देशान्तरे ॥

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ॥ न चैवोपलभ्यन्ते ॥

‘शब्द अप्रयुक्त है’, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं क्योंकि अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है। ‘शब्द अप्रयुक्त है’, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। इसमें क्या कारण ? अर्थ में शब्द का प्रयोग होने से। अर्थ में शब्द प्रयोग किए जाते हैं। इन शब्दों के अर्थ हैं जिनमें वे प्रयोग किए जाते हैं। इनके स्थान पर अन्य शब्दों का प्रयोग होने से, इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता। इन शब्दों का प्रयुक्त न होना उचित है। क्यों ? अन्य शब्दों का प्रयोग होने से। क्योंकि इन शब्दों के अर्थ में दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे- ‘ऊष’ शब्द के अर्थ में ‘उषिता’, ‘क्व यूयमुषिता’ ‘तुम कहां रहे ?’ ‘तेर’ के अर्थ में ‘तीर्णाः’ ‘क्व यूयं तीर्णाः’, ‘तुम कहां तैरे ?’ ‘चक्र’ के अर्थ में ‘कृतवन्तः’, ‘क्व यूयं कृतवन्तः’, ‘तुमने कहां काम किया ?’ ‘पेच’ के अर्थ में ‘पक्ववन्तः’, ‘क्व यूयं पक्ववन्तः’, ‘आपने कहां पकाया ?

आगे कहते हैं “उपयुक्त शब्दों के विषय में, लम्बे यज्ञों की भांति।” अर्थात् - यद्यपि (कुछ) शब्द अप्रयुक्त हैं, तो भी लंबे यज्ञों की भांति उनका अन्वाख्यान शास्त्र द्वारा अवश्य करना चाहिए। जैसे, कुछ यज्ञ सौ वर्ष तक और (कुछ) हजार वर्ष तक चलने वाले होते हैं। पर आजकल उन्हें कोई नहीं करता, केवल ऋषिपरम्परा को धर्म मानकर याज्ञिक लोग शास्त्र से उनका अन्वाख्यान करते हैं।

आगे कहते हैं कि, ये सभी (अप्रयुक्त शब्द) दूसरे देशों में प्रयुक्त होते हैं। पर ऐसा पाया नहीं जाता। इसे स्पष्ट करते हैं-

उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती,, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा मित्राः- एकशत-मध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणो वेदः। वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य

प्रयोगविषयमनुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव। एतस्मिं-
 श्वातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते,
 तद्यथा - शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव
 इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते।
 दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु ॥ ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः
 एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते।

क्व ? वेदे। तद्यथा 'सप्तास्ये रेवती रेवदूष' 'यद्धो रेवती रेवत्यां तमूष',
 'यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र' 'यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्' इति ॥

(तो उनके) पाने के लिए यत्न कीजिए। शब्द के प्रयोग का क्षेत्र अत्यन्त
 विस्तृत है। पृथिवी के सात महाद्वीप हैं, तीन लोक हैं, चार वेद हैं अङ्गों और
 उपनिषदों सहित। इनके भेद अर्थत् शाखाएं बहुत हैं, यजुर्वेद की एक सौ एक
 शाखाएं, सामवेद की एक हजार शाखाएं, ऋग्वेद के इक्कीस प्रकार और
 अथर्ववेद नौ प्रकार से। वाकोवाक्य अर्थात् प्रश्नोत्तर साहित्य, इतिहास, पुराण
 वैद्यक- इस प्रकार शब्द के प्रयोग का इतना विशाल क्षेत्र है। शब्द के प्रयोग के
 इतने बड़े क्षेत्र को जाने बिना यह कहना कि शब्द अप्रयुक्त हैं केवल साहस
 मात्र है। शब्द के इस अत्यन्त विशाल प्रयोग क्षेत्र में शब्द अपने-अपने निश्चित
 अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। जैसे -गत्यर्थक 'श्व' धातु को क्रियारूप में कम्बोज
 लोग ही बोलते हैं। आर्य लोग इससे बने (कृदन्त रूप) 'शव' शब्द का प्रयोग
 करते हैं। 'हम्म' धातु सुराष्ट्र में, 'रंह' धातु प्राच्य और मध्य देश में (प्रयुक्त
 होती है), आर्य लोग तो (इस अर्थ में) 'गम्' धातु का ही प्रयोग करते हैं।
 काटने अर्थ में 'दा' धातु को (क्रियारूप में) प्राच्य देश में और (कृदन्त रूप)
 'दात्र' शब्द को उदीच्य देश में प्रयुक्त किया जाता है। और जिन भी शब्दों को
 आपने अप्रयुक्त माना है, इनका भी प्रयोग मिलता है। कहां पर ? वेद में।
 जैसे - 'सप्तास्ये रेवती रेवदूष', यद्धो रेवती रेवत्यां तमूष', 'यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म
 चक्र', यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्' ॥

साधुशब्दज्ञानपूर्वकप्रयोगस्य धर्मजनकता -किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्मः,
 आहोस्वित् प्रयोगे ? कश्चात्र विशेषः ?

॥ ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः ॥

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति। यो हि शब्दाज्ञानाति,
 अपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेप्यधर्मः ॥ अथवा
 भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दाः, अल्पौयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य
 बहवोऽपभंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी गौणी गीता गोपोतलिकत्येवमा-
 दयोऽपभंशाः ॥

॥ आचारे नियमः ॥

आचारे पुनः ऋषिर्नियमं वेदयते 'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति पुर्वन्तः परभूवुः', इति। अस्तु तर्हि प्रयोगे । प्रयोगे सर्वलोकस्य । यदि प्रयोगे धर्मः, सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत । कश्चेदानीं भवतो मत्सरो, यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ? न खलु कश्चिन्मत्सरः, प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति । फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम् । न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः । ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान् प्रयोक्ष्यन्ते । त एव साधीयोऽ- भ्युदयेन योक्ष्यन्ते । व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते । दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाऽप्रवीणाः, अकृतप्रयत्नाश्च प्रतीणाः । तत्र फलव्यति- रेकोऽपि स्यात् । एवं तर्हि - नापि ज्ञान एवं धर्मो, नापि प्रयोग एव । किं तर्हि ?

शब्दों के ज्ञानपूर्वक प्रयोग की उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए प्रश्न करते हैं कि शब्दों के ज्ञान में धर्म है या उनके प्रयोग में ? किन्तु इन दोनों (पक्षों) में भेद क्या है ? यदि ज्ञान में धर्म हो, तो वैसे अधर्म भी होगा ।

यदि शब्दों के ज्ञान में धर्म होता है, तो उसी प्रकार अधर्म भी प्राप्त होता है । जो मनुष्य शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है । जिस प्रकार शब्दों के ज्ञान से धर्म होता है, उसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी होता है । अथवा अधर्म अधिक होता है, क्योंकि अपशब्द (अपेक्षाकृत) अधिक है, (शुद्ध) शब्द (अपेक्षाकृत) अल्पतर । एक-एक शब्द के बहुतेरे अपभ्रंश हैं । जैसे- 'गौ' इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं ।

तब कहते हैं कि आचार में नियम भी तो है ।

ऋषि तो आचार अर्थात् प्रयोग में नियम भी बताता है- 'वेअसुर (हेऽरयः, हेऽरयः' के स्थान पर) 'हेऽलयः, हेऽलयः' प्रयोग करते हुए पराजित हुए थे । कहते हैं कि अच्छा, तो प्रयोग में ही धर्म सही कम से कम प्रयोग के पक्ष में तो सब लोगों को धर्म होगा ।

और यदि प्रयोग में धर्म मान लिया जाए तो सभी लोग अभ्युदय अर्थात् कल्याण से युक्त हो जाएंगे । तो इसमें आप को ईर्ष्या कैसी, यदि सभी लोग अभ्युदय से युक्त हो जाएं ? उत्तर देते हैं कि मुझे कोई ईर्ष्या नहीं । पर व्याकरण पढ़कर शब्दज्ञान करने का प्रयत्न तो व्यर्थ हो जाता है । प्रयत्न को अवश्य फलवान् होना चाहिए । प्रयत्न को फल से पृथक् तो नहीं किया जा सकता । अतः जो व्याकरण पढ़कर शब्दज्ञान करने का यत्न करेंगे, वे अधिक अच्छे ढंग से शब्दों का प्रयोग करेंगे, और वे ही अधिक अच्छे ढंग से अभ्युदय के भागी बनेंगे ।

॥ शास्त्र पूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन ॥

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान् प्रयुङ्क्ते, सोऽभ्युदयेन युज्यते । 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' । वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति- 'योऽग्निष्टोमेन यजते, य उ चैनमेव वेद' । 'योऽग्नि

नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेवं वेद'। अपर आह-‘तत्तुल्यं वेदशब्देने’ ति। यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्ति। एवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति। अथवा पुनरस्तु - ज्ञान एव धर्म इति। ननु चोक्तं - ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्म इति। नैष दोषः। शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्। यच्च पुनरशि- ष्टाऽप्रतिषिद्धं, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। तद्यथा हिक्कितहसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय। अथवाऽभ्युपाय एवाऽपशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने। यो ह्यपशब्दाज्ञानाति शब्दानप्यसौ जानाति। तदेवं ‘ज्ञाने धर्मः’ इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति। ‘अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः’ इति। अथवा कूपखानकवदेतद् भविष्यति। तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन्यद्यपि तदीयमृदा पांसुभिश्चावकीर्णे भवति। सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति, येन च स दोषो निर्हण्यते। भूयसा चाऽभ्युदयेन योगो भवति। एवमिहापि यद्यप्यपशब्द- ज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्घानिष्यते, भूयसा चाऽभ्युदयेन योगो भविष्यति।।

यदप्युच्यते- ‘आचारे नियमः’ इति। याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्राऽनियमः। एवं हि श्रूयते-यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परारज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः’। ते तत्रभवन्तो यद्वा नः तद्वा नः इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नाऽपभाषन्ते। तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्। ततस्ते पराभूताः ।।

पुनः शंका करते हैं कि व्यवहार में इसके विपरीत भी देखा जाता है, कि व्याकरण में प्रयत्न करने पर भी कुछ लोग शब्द प्रयोग में कुशल नहीं होते, जब कि कुछ लोग व्याकरण में प्रयत्न किये बिना ही शब्द प्रयोग में कुशल होते हैं। शब्द प्रयोग में धर्म मानने के पक्ष में फल की प्राप्ति में भी विपरीतता होगी। शब्द ज्ञान के लिए प्रयत्न करने वाले को फल न मिलकर कुशल प्रयोग करने वाले को ही फल मिलेगा, चाहे उसने व्याकरण पढ़कर शब्द ज्ञान करने का यत्न न भी किया हो। तो ऐसी अवस्था में धर्म न केवल ज्ञान में और न ही केवल प्रयोग में मानना चाहिए। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मानना चाहिए? उत्तर देते हैं कि -

शास्त्र-ज्ञान-पूर्वक प्रयोग में धर्म है, यह वेद के वचन के अनुकूल है। जो व्याकरण शास्त्र को जानकर शब्दों का प्रयोग करता है, वह कल्याण से युक्त होता है, यह बात वेद के वचन के अनुकूल है। वेद के शब्द भी यही कहते हैं- ‘जो अग्निष्टोम यज्ञ करता है, और जो उसे इस प्रकार जानता है’। ‘जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, और जो उसे इस प्रकार जानता है।’ अर्थात् जानकर और समझकर प्रयोग करना ही फलदायि होता है।

कोई दूसरा कहता है - यह वेद के शब्दों के तुल्य है। जिस प्रकार वेद के शब्द नियमपूर्वक पढ़े जाने पर फल वाले होते हैं, उसी प्रकार जो

शास्त्र-ज्ञानपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है, वह कल्याण से युक्त होता है। अथवा, ज्ञान में ही धर्म होने दो। भी होता है यह तात्पर्य है ?

किन्तु पहले कहा था कि यदि ज्ञान ही में धर्म होगा, तो उसी प्रकार अधर्म भी होगा। समाधान करते हैं कि यह कोई दोष नहीं। हम शब्द अर्थात् शास्त्रवचन को प्रमाण मानने वाले हैं। शब्द या शास्त्रवचन जो कहता है, वह हमारे लिए प्रमाण है। शास्त्र वचन तो शब्द के ज्ञान में धर्म बतलाता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता। और जिस कार्य का न विधान हो, न निषेध हो, उस कार्य के करने में न दोष होता है, न कल्याण। जैसे- हिचकी, हंसी, और खुजली करने में न दोष है, न अभ्युदय।

अथवा, अपशब्दों का ज्ञान तो शब्दों के ज्ञान में साधन है। जो अपशब्दों को जानता है, वह शब्दों को भी जानता है। सो इस प्रकार, 'ज्ञान में धर्म है' ऐसा कहने वाला परोक्षरूप अर्थात् अर्थापत्ति से स्वीकार करता है कि अपशब्दों का ज्ञान होने पर शब्द ज्ञान होता है उसमें धर्म है।

अथवा, कूँ खोदने वाले की भांति होता होगा कि जैसे कूँ को खोदने वाला कूँ का खोदते हुए यद्यपि मिट्टी-धूल से भर जाता है, पर पानी के निकल आने पर वह वहीं से ऐसा स्नान का गुण पा लेता है, जिससे वह मिट्टी-धूल का दोष नष्ट हो जाता है, अपितु अधिक अभ्युदय अर्थात् कल्याण के साथ उसका योग हो जाता है। इसी प्रकार यहां पर भी। यद्यपि अपशब्द के जानने में अधर्म होता है, तो भी शब्द ज्ञान में जो धर्म होता है, उससे वह दोष नष्ट हो जाएगा, अपितु अधिक अभ्युदय से योग होगा।

जो यह कहा था, 'आचार या प्रयोग में ही धर्म का नियम किया गया है'। सो यह नियम यज्ञकर्म के सम्बन्ध में है, अन्यत्र नहीं। ऐसा सुना जाता है- 'यवार्णः तवार्णः नाम के ऋषि हो चुके हैं जो धर्म का साक्षात्कार करने वाले, परा और अपना विद्या को जानने वाले, ज्ञेय का ज्ञान रखने वाले और वास्तविकता को समझने वाले थे। वे पूज्य ऋषि 'यद्वा नः तद्वा नः' अर्थात् जितना कुछ हमारे लिए है, उतना ही हमारे लिए है, अधिक नहीं ऐसा बोलने के स्थान पर 'यवार्णः तवार्णः' ऐसा कह देते थे। पर यज्ञकर्म में अपशब्द अर्थात् अशुद्ध शब्द नहीं बोलते थे। परन्तु उन असुरों ने तो यज्ञकर्म में ही अशुद्ध शब्द (हेऽलयः, हेऽलयः) बोल दिया था, इसलिए वे परास्त हुए।

व्याकरण-स्वरूप-विचारः - अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ?

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः - सूत्र व्याकरण षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते - 'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति। किं हि तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणम् यस्यादः सूत्रं स्यात् ?

शब्दाऽप्रतिपत्तिः- शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। 'व्याकरण-च्छब्दान् प्रतिपद्यामहे' इति। नहि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि ? व्याख्यानतश्च।

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति । न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्-‘वृद्धिः, आत्, ऐच्’, इति । किं तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्स मुदितं व्याख्यानं भवति । एवं तर्हि शब्दः ।

शब्दे ल्युडर्थः । यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यतेव्या- क्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् । नहि शब्देन किंचिद् व्याक्रियते । केन तर्हि ? सूत्रेण । भवे च तद्धितः । भवे च तद्धितो नोपपद्यते- ‘व्याकरणे भवो योगो वैयाकरणः’ इति । नहि शब्दे भवो योगः । क्व तर्हि ? सूत्रे ।

महाभाष्यकार कहते हैं कि, शब्दों का ज्ञान भी संभव नहीं है ।

और शब्दों का ज्ञान भी नहीं हो पाएगा । ‘हम व्याकरण से शब्दों का ज्ञान करते हैं’ ऐसा कहा जाता है क्योंकि केवल सूत्रों से ही शब्दों का ज्ञान नहीं होता । प्रश्न है तो किस से होता है ? कहते हैं, व्याख्यान से भी होता है । किन्तु उसी सूत्र का विग्रह अर्थात् पदच्छेद करने पर व्याख्यान बन जाता है । उत्तर देते हैं कि नहीं । केवल विभक्त-पद ही व्याख्यान नहीं बन जाते । जैसे-‘बुद्धिः, आत्, ऐच्’, इतना पदविभाग ही ‘बुद्धिरादैच्’ सूत्र की व्याख्या नहीं है । तो पुछते हैं कि व्याख्या क्या है ? तब कहते हैं कि उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पिछले वाक्य से अनुवृत्ति, ये सब मिलकर व्याख्यान बनता है । तर्क है कि ऐसी अवस्था में शब्द को ही व्याकरण का अर्थ मान लो । तब समझाते हैं कि शब्द को ही व्याकरण का अर्थ मानने पर, ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं जुड़ता ।

व्याकरण वह है जिससे शब्दों का विश्लेषण किया जाता है । पर शब्द से तो कुछ विश्लेषण नहीं होता । तो किससे होता है ? कहते हैं - सूत्र से ।

प्रोक्तादयश्च तद्धिताः । प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते । ‘पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्’,

आपिशलं, काशकृत्स्नमिति । नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः । किं तर्हि ? सूत्रम् । किमर्थमिदमुभयमुच्यते ‘भवे’, ‘प्रोक्तादयश्च तद्धिता’ इति । न प्रोक्तादयश्च तद्धिता इत्येव भवेऽपि तद्धित- श्वोदितः स्यात् ? पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टम् ‘भवे च तद्धितः’ इति, तदपि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति । अयं तावददोषः, युदुच्यते- ‘शब्दे ल्युडर्थः’ इति ।। नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युट् विधीयते । किं तर्हि ? अन्येष्वपि कारेकेषु - ‘कृत्यल्युटो बहुलम्’ इति । तद्यथा प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति ।।

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते । तद्यथा ‘गौः’ इत्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो, न गर्दभ इति । अयं तर्हि दोषः, ‘भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिताः’ इति । एवं तर्हि - और ‘उसमें विद्यमान’ अर्थ वाला तद्धित प्रत्यय भी नहीं होगा । ‘तत्र भवः’ से होने वाला ‘उसमें विद्यमान’ अर्थ वाला तद्धित प्रत्यय संगत नहीं होगा । ‘व्याकरण में होने वाला प्रयोग वैयाकरण कहलाता है ।’ शब्द

में तो प्रयोग होता नहीं। तो कहां होता है ? सूत्र में। और 'उसने कहा' अर्थ वाले तद्धित प्रत्यय भी नहीं होंगे।

'तेन प्रोक्तम्' से होने वाले तद्धित प्रत्यय भी संगत नहीं होंगे। 'जो पाणिनि ने कहा वह पाणिनीय', आपिशलि से प्रोक्त आपिशलि, काशकृत्स्न से प्रोक्त काशकृत्स्न, इत्यादि। पर पाणिनि ने शब्दों का प्रवचन नहीं किया। तो किसका किया है ? कहते हैं सूत्र का। प्रश्न है कि भवे च तद्धितः 'उसमें विद्यमान' अर्थ में तद्धित, और प्रोक्तादयश्च तद्धिता 'उसने कहा' आदि अर्थों में तद्धित, ये दोनों बातें पृथक्-पृथक् क्यों कही है ? 'उसने कहा आदि अर्थों में तद्धित' केवल इतना कहने से क्या 'विद्यमान अर्थ में भी तद्धित' नहीं समझाया जा सकता था ?

आचार्य की दृष्टि में पहले 'भवे च तद्धितः' आया और उसने वह कह दिया। उसके पश्चात् उसके ध्यान में आया 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः', तब उसे भी पढ़ दिया। आचार्य सूत्रों को बनाकर हटाते नहीं। पहले जो यह कहा था कि शब्द को व्याकरण मानने पर, ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं जुड़ता तो यह कोई दोष नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि केवल करण और अधिकरण में ही ल्युट् प्रत्यय हो।

तो फिर किसमें होता है ? दूसरे भी कारकों में कृत्य और ल्युट् प्रत्यय बहुत बार देखे जाते हैं। सो जैसे- प्रस्कन्दन, प्रपतन। अथवा, शब्दों से भी शब्दों का व्याकरण या विवेचन हो जाता है। जैसे- 'गौः' शब्द कहने पर सब सन्देह दूर हो जाते हैं, कि यह घोड़ा नहीं, यह गधा नहीं। किन्तु यह दोष तो रहेगा ही, 'उसमें विद्यमान' और 'उसने कहा' आदि अर्थों में तद्धित प्रत्यय संगत नहीं होंगे। तो ऐसी अवस्था में -

॥ लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् ॥

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति। किं पुनर्लक्ष्यं ? किं वा लक्षणम् ? शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम् । एवमप्ययं दोषः - समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते - वैयाकरण इति। नैष दोषः । समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा पूर्वं पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः कपिलः कृष्ण इति। इवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते। अथवा पुनरस्तु सूत्रम्। ननु चोक्तम्- सूत्रे व्याकरणो षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्न इति। नैष दोषः, व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति। यदप्युच्यते - 'शब्दाऽप्रतिपत्तिः' इति। नहि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि ? व्याख्यानतश्चेति ॥ परिहृतमेतत्- तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति। ननु चोक्तं- न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्- वृद्धिः, आत्, ऐजिति ॥ किं तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार

इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति, इति। अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। आतश्च सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन् नादो गृह्येत।।

अर्थात् लक्ष्य और लक्षण, दोनों ही, व्याकरण है। लक्ष्य और लक्षण, दोनों मिलकर, व्याकरण बनता है। अब प्रश्न होता है कि लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है? कहते हैं कि शब्द लक्ष्य है, और सूत्र लक्षण है। इस प्रकार भी यह दोष रहेगा, दोनों के समूह में प्रयुक्त होने वाला 'व्याकरण' शब्द अपने एक अंग के विषय में प्रयुक्त न हो पाएगा। केवल सूत्रों के पढ़ने वाले को भी तो वैयाकरण कहना अभिलषित है। तो यह कोई दोष नहीं। समूह अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द, अपने अवयवों (=अंगों) में भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे - पूर्व के पत्र्चाल, उत्तर के पत्र्चाल, तेल खा लिया, घी खा लिया, किसी वस्तु को सफेद, नीला, भूरा, काला इत्यादि कह देते हैं, जब कि तेल, घी और ये रंग अन्यत्र भी विद्यमान हैं, हमारे कथन का विषय तो उनका एकदेश मात्र होता है। इसी प्रकार यह 'व्याकरण' शब्द समुदाय में प्रयुक्त होता हुआ भी उसके अवयवों में भी प्रयुक्त होगा। अथवा, सूत्र ही व्याकरण है, ऐसा मान लिया जाए तो कहते हैं कि 'सूत्र को व्याकरण मानने पर षष्ठी विभक्ति का अर्थ संगत नहीं होगा'।

यह दोष नहीं है। व्यपदेशिवद्भाव से (अमुख्य में भी मुख्य के समान व्यवहार) हो जाएगा। 'बाग के पेड़', 'मेरा आत्मा', 'राहु का सिर' जैसे प्रयोगों की भाँति 'व्याकरण का सूत्र' प्रयोग भी अभेद में षष्ठी होने से सिद्ध हो सकेगा। और पहले जो यह कहा था कि 'शब्दों का ज्ञान नहीं हो पाएगा'। क्योंकि केवल सूत्रों से ही शब्दों का ज्ञान नहीं होता। तो किस से? व्याख्यान से भी। इसका परिहार कर दिया था- 'उसी सूत्र का विग्रह अर्थात् पदच्छेद करने पर व्याख्यान बन जाता है'। साथ ही यह भी कह दिया था कि केवल विभाग से कहे गए पद व्याख्यान नहीं बन जाते, जैसे - वृद्धिः, आत्, ऐच्। तो किससे ? उदाहरण, प्रत्युदाहरण और पिछले वाक्यों से अनुवृत्ति- ये सब मिलकर व्याख्यान बनता है। तथा विशेष में न जानने वालों के लिए ही ऐसा होता है। (वस्तुतः) सूत्र से ही शब्दों का प्रतिपादन होता है। अतः सूत्र से ही (शब्दों का ज्ञान होता है)। जो सूत्र का अतिक्रम करके कहेगा, उसका वचन नहीं माना जाएगा।

वर्णोपदेशप्रयोजनानि - अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ? वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः। वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः। किमिदं वृत्तिसमवायार्थ इति ? वृत्तये समवायो वृत्तिसमवाय इति। वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः। का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः। अथ कः समवायः ? वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः। अथ क उपदेशः ? उच्चारणम् । कुत एतत् ? दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह 'उपदिष्टा इमे वर्णा' इति। अनुबन्धकरणार्थश्च। अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः। अनुबन्धानास-

इक्ष्यामीति । न ह्यनुपदिश्य वर्णानुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम् । स एष वर्णानामु-
पदेशो वृत्ति- समवायार्थश्चाऽनुबन्धकरणार्थश्च । वृत्तिसमवायश्चाऽनुबन्धकरणं च
प्रत्याहारार्थम् । प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः । इष्टबुद्ध्यर्थश्च । इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः-
'इष्टान् वर्णान् भोत्स्यामहे' इति । न ह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या
विज्ञातुम् ।।

प्रत्याहार सूत्रों में वर्णों के उपदेश का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं कि अब, वर्णों का उपदेश किस लिए किया गया है ? वृत्ति (शास्त्र में प्रवृत्ति) के निमित्त समवाय (क्रम विशेष से सन्निवेश) के लिए (वर्णों का) उपदेश अर्थात् कथन किया है । वृत्ति के निमित्त समवाय के लिए वर्णों का उपदेश करना ही चाहिए । यह वृत्ति-समवाय क्या है ? वृत्ति के लिए समवाय, वृत्ति-उपकारक समवाय अथवा वृत्ति का प्रयोजन समवाय, वृत्तिसमवाय कहाता है । तो वृत्ति क्या है ? वर्णों का क्रम से सन्निवेश । ही वृत्ति है । और उपदेश क्या है ? उच्चारण या कथन । ही उपदेश है । यह कैसे ? तो बताते हैं कि, दिश् धातु उच्चारण अर्थ में है । वर्णों का उच्चारण करके ही आचार्य कहता है कि, 'इन वर्णों का उपदेश कर दिया है' । अनुबन्ध करने के लिए भी वर्णों का उपदेश किया है ।

अनुबन्ध लगाने के लिए भी प्रत्याहार सूत्रों द्वारा वर्णों का उपदेश करना चाहिए । जिससे मैं अनुबन्धों को लगाऊँगा । वर्णों का कथन किए बिना अनुबन्ध नहीं लगाए जा सकते । सो वर्णों का यह उपदेश वृत्ति-समवाय (=शास्त्र प्रवृत्ति के निमित्त वर्णों को क्रम से रखने) के लिए है और अनुबन्ध लगाने के लिए है । वृत्ति-समवाय और अनुबन्ध-करण प्रत्याहार बनाने के लिए है । प्रत्याहार शास्त्र-प्रवृत्ति के लिए है । अभीष्ट के बोधन के लिए भी वर्णों का उपदेश किया है । अभीष्ट के ज्ञान के लिए भी वर्णों का उपदेश किया गया है, इससे हम उपादेय वर्णों को जान पाएँगे । वर्णों का उपदेश किए बिना उपादेय वर्णों का ज्ञान संभव नहीं ।

।। इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्ताऽनुदात्तस्वरिताऽनुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः ।।

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्ताऽनुदात्तस्वरिताऽनुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः
कर्तव्यः । एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ।

।। आकृत्युपदेशात्सिद्धम् ।।

आकृत्युपदेशात् सिद्धमेतत् । अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वम- वर्णकुलं ग्रहीष्यति ।
तथेवर्णाकृतिः । तथेवर्णाकृतिः ।।

।। आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः ।।

आकृत्यपदेशात्सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ के पुनः संवृतादयः ? संवृतः, कलो, ध्मातः, एणीकृतोऽम्बूकृतोऽ-र्द्धको, ग्रस्तो, निरस्तः, प्रगीतः, उपगीतः, क्षिचणो, रोमश, इति ।

अपर आह - 'ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् । संदष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः' इति । अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ॥ नैष दोषः ।

अर्थात् यदि अभीष्ट (वर्णों) के बोधन के लिए (वर्णोपदेश) है, तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ, प्लुत (वर्णों) का भी उपदेश होना चाहिए । यदि उपादेय (वर्णों) के ज्ञान के लिए (वर्णों का उपदेश किया गया है), तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुत (वर्णों) का भी उपदेश करना चाहिए, (क्योंकि) इस प्रकार के वर्ण भी उपादेय हैं । जाति-परक उपदेश होने के कारण (यह स्वयं) सिद्ध है ।

वर्णों का उपदेश जातिपरक होने के कारण यह (उदात्त आदि का उपदेश अपने आप) सिद्ध हो जाएगा । 'अ' वर्ण की जाति का उपदेश सभी प्रकार के 'अ' वर्णों के वर्ग को ग्रहण करा देगा । उसी प्रकार 'इ' वर्ण की जाति, उसी प्रकार 'उ' वर्ण की जाति क्रमशः सभी प्रकार के 'इ' वर्णों तथा 'उ' वर्णों का ग्रहण करा देगी । तो यदि जाति के उपदेश से सिद्ध है, तो संवृत आदि का प्रतिषेध करना होगा । अर्थात् यदि जाति के निर्देश कर देने से उदात्त आदि वर्णों का ग्रहण अपने आप सिद्ध है, तो संवृत आदि दोष-युक्त वर्ण भी अपने आप प्राप्त होंगे, तब उन संवृत आदि का निषेध करना होगा । संवृत आदि दोष कौन से हैं ? संवृत, कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्द्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत, क्षिचण, रोमश । कोई दूसरा कहता है- 'ग्रस्त, निरस्त, अविलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित, संदष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत, विकीर्ण- ये स्वर दोष हैं, इनके अतिरिक्त दूसरे दोष व्यञ्जनों के हैं तो उत्तर देते हैं कि - यह कोई दोष या आक्षेप नहीं है ।

॥ गर्गादिविदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिः ॥

गर्गादिविदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति । अस्त्यन्द् गर्गादि- विदादिपाठे प्रयोजनम् । किं ? समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति । एवं तर्ह्यष्टादशधा मित्रां विवृत्तकलादिकावर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि ॥ सा तर्हि वक्तव्या । लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः । लिङ्गार्था सा तर्हि भवति । तत्तर्हि वक्तव्यम् । यद्यप्येतदुच्यते । अथ वैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यमित्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः । यदनुबन्धैः क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते । सिद्धयत्येवम् । अपाणिनीयं तु भवति । यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तम्- 'आकृत्य- पदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः' इति ॥

अर्थात् गर्गादि, विदादि गणों के शुद्ध पाठ से संवृत आदि दोषों का निवारण अपने आप हो जाएगा। गर्गादि, विदादि के पाठ करने का प्रयोजन कुछ और है। वह क्या है? तो कहते हैं कि जिससे (इन) समुदायों या गणों में पढ़े शब्दों की साधुता जानी जा सके। तो फिर ऐसी अवस्था में, कल आदि दोषों से रहित, अवर्ण के अठारह प्रकारों की प्रत्यापत्ति अर्थात् पुनःस्वरूप प्राप्ति कर दूँगा। तो उसे कहना पड़ेगा जिससे गौरव अर्थात् विस्तार का दोष होगा। कहते हैं कि प्रत्यापत्ति तो लिङ्गार्थ है। वह प्रत्यापत्ति लिङ्गों अर्थात् चिह्नों का प्रयोजन भी पूरा कर देगी। फिर समस्या है कि उसे कहना तो पड़ेगा ही जिससे गौरव दोष होगा। यदि यह कह दिया जाय, तो अनेक सैकड़ों अनुबन्ध नहीं कहने पड़ेंगे, इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ेगी, और लोप भी नहीं कहना पड़ेगा। जो काम अनुबन्धों से होता है, वह कल आदि (दोषों) से कर लिया जाएगा। किन्तु इस प्रकार से काम तो चल जाएगा, परन्तु पाणिनि के विपरीत होगा। तो जैसा कहा है वैसा ही रहने दो तो कहते हैं कि- ‘यदि जाति परक उपदेश होने से (उदात्त आदि वर्णों का ग्रहण अपने आप) सिद्ध है, तो संवृत आदि दोषों का निषेध करना होगा’।

परिहृतमेतत्, गर्गादिविदापाठात् संवृतादीनां निवृत्ति- भविष्यति-इति। ननु चान्यद् गर्गादि- विदादिपाठे प्रयोजनमुक्तम्। किम्? समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति। एवं तदर्थुभय- मनेन क्रियते-पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निर्वर्त्यन्ते। कथं पुरुरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम्? लभ्यमित्याह। कथम्? द्विगता अपि हेतवो भवन्ति। तद्यथा - ‘आम्नाश्च सिक्ताः, पितरश्च प्रीणिताः’ इति। तथा वाक्यानि द्विष्टानि भवन्ति- श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति। अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः, क्वेमे संवृत्तादयः श्रूयेरन्निति? आगमेषु। आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते। विकारेषु तर्हि। विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते।।

उसी प्रकरण को स्पष्ट करते हैं कि उसका परिहार कर दिया था ‘गर्गादि, विदादि (गणों) के पाठ से संवृत आदि (दोषों) का निषेध हो जाएगा’। फिर कहते हैं कि - गर्गादि, विदादि के पाठ का प्रयोजन तो कुछ और है। वह क्या? तो कहते हैं कि जिससे इन गणों की साधुता बताई जा सके। तो इस अवस्था में इस (गर्गादि-विदादि) पाठ से दोनों काम होंगे इनका पाठ भी विशेषित होगा जिससे इन शब्द विशेषों से ही कार्य विशेष होंगे, अन्यत्र नहीं, और कल आदि दोषों का भी निवारण होगा। प्रश्न है कि एक यत्न से दोनों लाभ कैसे सम्भव है? आचार्य कहते हैं संभव है। कैसे? कुछ कारण दो कार्यों को प्राप्त कराने वाले भी होते हैं जैसे - ‘आम भी सींचे गए और पूर्वज भी प्रसन्न कर लिये’। इसी प्रकार वाक्य भी द्व्यर्थक होते हैं - ‘श्वेतो धावति’ (1.सफेद दौड़ता है, 2. श्वा इतो धावति = कुत्ता यहां से दौड़ता है)। ‘अलम्बुसानां याता’ (1.वह अलम्बुस देश को जाने वाला है, 2. बुसानां याता अलम्= भूसे को प्राप्त करने वाला समर्थ है)। अथवा, इससे यह पूछना चाहिए, ये संवृत आदि दोष कहाँ

सुनाई पड़ेगें ? आगमों में। तो उत्तर है आगम शुद्ध पढ़े गए हैं। तो विकारों में। नहीं विकार (आदेश) भी शुद्ध पढ़े हैं।

प्रत्ययेषु तर्हि ॥ प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥ धातुषु तर्हि ॥ धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥ प्रातिपदिकेषु तर्हि । प्राति- पदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते । यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि ॥ एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः । शशः षषः इति मा भूत् । पलाशः पलाष इति मा भूत् । मञ्चको मञ्चक इति मा भूत् ।

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।

उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमं पस्पशाह्निकम् ॥

पूर्व सन्दर्भ में ही प्रश्न करते हैं कि संवृत्र आदि दोष क्या प्रत्ययों में सुनाई देंगे ? तो उत्तर देते हैं कि प्रत्ययों को भी शुद्ध पढ़ गया है। तो धातुओं में। नहीं धातु भी शुद्ध पढ़े हैं। तो प्रातिपदिकों में। उत्तर है कि प्रातिपदिक (मूल नामपद) भी शुद्ध पढ़े गए हैं। और जिन प्रातिपदिकों का ग्रहण ही नहीं किया गया (नाम ही नहीं लिया गया), उनके भी स्वर-व्यञ्जनों की आनुपूर्वी (क्रम) को जानने के लिए उनका उपदेश करना चाहिए, जिससे 'शश' (खरगोश) को 'षष' (निरर्थक) न बन जाए। 'मञ्चक' (ऊँचा आसन) के स्थान पर 'मञ्जक' (निरर्थक) न पढ़ा जाए। आगम, आदेश, प्रत्यय, धातुओं सहित, (शुद्ध हो) पढ़ दिए गए हैं, अतः इनमें कल आदि दोषों के प्राप्त होना का प्रसंग नहीं।

॥ प्रथम पस्पशाह्निक समाप्त ॥

4.4 महत्वपूर्ण प्रश्न

प्र.1 पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार शब्द की परिभाषा दीजिये।

उत्तर - 'गौरित्यत्र कः शब्दः ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'शब्द' को परिभाषित करते हुए आचार्य पातञ्जलि लिखते हैं- "येनाच्चारितेन सास्ना-लांगूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ॥" अर्थात् जिसके उच्चारित किये जाने पर गलकम्बल, पूँछ, ककुद, खुर और सींगवाले पशु व्यक्ति का ज्ञान होता है, वह 'शब्द' है। अथवा लोक में व्यवहार करने वालों में पदार्थ

के बोधकरूप से प्रसिद्ध वर्णरूप, जो ध्वनि-समुदाय है, वही शब्द है। उदाहरणार्थ - जो वर्णरूप ध्वनि का उच्चारण करने वाला होता है, उससे यह कहा जाता है कि 'जिस ध्वनिरूप शब्द का उच्चारण तुम कर रहे हो, उसे करते ही रहो'। 'शब्द' मत करो'। 'यह बालक बारम्बार शब्द का उच्चारण किया करता है'। इस प्रकार ध्वनि अर्थात् वर्णोच्चारण ही 'शब्द' है - "अथवा, प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकारी अयं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः ॥"

ध्यातव्य है कि ककार, खकार इत्यादि वर्णरूप ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति कराती है। स्वयं इसका कोई अर्थ नहीं होता है अतः वैयाकरणों के मत में वास्तविक शब्द 'स्फोट' ही माना गया है।

प्र.2 पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

उत्तर -शब्द, अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार पातञ्जलि कहते हैं कि शब्द और अर्थ का परस्पर जो सम्बन्ध है, वह सिद्ध है। सिद्ध शब्द पर्यायरूप से नित्य अर्थ का वाचक है- "नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः" क्योंकि यह सिद्ध शब्द लोहार की निहाई (कूटस्थ) के समान अविचल पदार्थों के बारे में प्रयुक्त होता है। जैसे स्वर्ग सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है। ध्यातव्य है कि संग्रह आदि ग्रन्थों में वृद्धों के व्यवहार से ही पदों, अर्थों और उनके सम्बन्धों की नित्यता मानी गई है। अतः विशिष्ट विवरण रूप व्याख्यानों से 'सिद्ध' शब्द से 'नित्य' अर्थ का ही ग्रहण होता है। 'जाति' और 'व्यक्ति' इन दोनों में से किसे पद का अर्थ मान करके 'शब्द', 'अर्थ' और इन दोनों के सम्बन्ध की नित्यता स्वीकार की जाय? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान भाष्यकार कहते हैं कि -आकृति अर्थात् जाति को शब्द (पद) का अर्थ मानकर शब्द, अर्थ, और दोनों के सम्बन्ध की नित्यता स्वीकार की जाय, क्योंकि आकृति (जाति) नित्य रहती है, जबकि व्यक्ति (द्रव्य) अनित्य होता है।

नित्यता के सम्बन्ध में यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि 'नित्य' का लक्षण यही नहीं है कि जो ध्रुव अर्थात् अयोधन के समान सदा स्थित

रहने वाला, रूपान्तरापत्तिरहित हो, जो विनाश और परिणामरूप विकारों से रहित हो, जो उत्पन्न न हो, जो बढ़े न और नष्ट भी न हो, वही नित्य है, अपितु वह भी नित्य कहा जाता है, जिसके नष्ट होने पर भी उसमें रहने वाले तत्व (धर्म) का नाश नहीं होता है। जैसे 'घट' में रहने वाला 'घटत्व' धर्म ही 'तत्व' है। अवयव संस्थानरूप आकृति के नष्ट होने पर भी उससे व्यंग्य जाति-रूप जो धर्म है, वह नष्ट नहीं होता है, ऐसा लोकव्यवहार में देखा जाता है क्योंकि लोक में अर्थ को बुद्धि का विषय बना करके ही प्रयोग करने वाले शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे इन शब्दों की निष्पत्ति के निमित्त कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं।

प्र.3 व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजन को स्पष्ट कीजिये ।

उत्तर –“प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते” इस न्याय के अनुसार बिना किसी प्रयोजन के कोई मन्दबुद्धि (मूर्ख) व्यक्ति भी किसी कार्य में संलग्न नहीं होता है। तो व्याकरण शास्त्राध्ययन जैसा कष्टसाध्य कार्य निष्प्रयोजन नहीं हो सकता और यदि इसका कोई प्रयोजन है, तो वह क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि जी लिखते हैं – “रक्षोहागम-लघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्” ॥ अर्थात् रक्षा ऊह, आगम, लघु और असन्देह का तात्पर्य वेदों की रक्षा, विभाक्तियों के विपरिणाम, आगम, सुगमता और संशयराहित्य, ये पाँच व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के मुख्य प्रयोजन हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है –

(क) रक्षा – व्याकरणशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वेदों की रक्षा है, इस विषय में भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है, वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिए, क्योंकि लोप, आगम और वर्णविकार को जानने वाला ही वेदों की रक्षा कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्याकरण के नियमानुसार वर्णलोपादि के ज्ञान के बिना शास्त्रों के आकर स्वरूप वेदों का परिपालन नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, आचार्य कात्यायन और पतञ्जलि का मत है कि व्याकरणज्ञान के अभाव में वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में विकृति आ जाएगी। निष्कर्ष यह है कि व्याकरण पुरुषार्थ का साधक उपाय है, क्योंकि वेदार्थज्ञान, कर्मानुष्ठानजनित एवं उपनिषदजनित सुख, ये तीनों वस्तुतः

व्याकरणाध्ययन के फल ही हैं। अतः वेदों की रक्षा का प्रधान भार वैयाकरणों के ही ऊपर है।

(ख) ऊह - 'ऊह' का अर्थ होता है, तर्क-वितर्क, अर्थात् नए पदों की कल्पना। मीमांसकों का मन्तव्य है कि यह विषय मीमांसा-शास्त्र का है। इस परिप्रेक्ष्य में भाष्यकार पतञ्जलि का मत है कि वेदों में जो मन्त्र कथित हैं, वे सब लिंगों एवं विभक्तियों में नहीं हैं। अतः उन मन्त्रों में यज्ञ में अपेक्षित रूप से लिंग और विभक्ति का व्यवहार करना चाहिए और यह दुष्कर कार्य वैयाकरणों के द्वारा ही सम्भव है। अतः व्याकरण का अध्ययन अवश्य करना चाहिए ।

(ग) आगम - व्याकरण के अध्ययन के लिए स्वयं श्रुति ही प्रमाणभूत है। भगवती श्रुति कहती है "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"। अर्थात् ब्राह्मण (द्विज) का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह निष्कारणधर्म का आचरण तथा षड्ग वेदों का अध्ययन करे। वेद के इन षड्गों में 'व्याकरण' ही मुख्य है और मुख्य-विषय में किया गया प्रयत्न विशेष फलदायी होता है। अतः श्रुति (आगम) प्रामाण्य को ध्यान में रखते हुए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

(घ) लघु - 'लघुता' के लिए व्याकरण का पठन-पाठन अत्यन्त आवश्यक है। संस्कृत-भाषा के प्रत्येक शुद्ध शब्द का यदि हम अध्ययन करना चाहें, तो इस लघु जीवन की बात ही क्या, अनेक जीवन व्यतीत हो जाए, परन्तु इस शब्दमहार्णव तक हम नहीं पहुँच सकते। इस विषय में स्वयं श्रुति कहती है कि 'देवगुरु बृहस्पति ने इन्द्र को एक सहस्र दिव्यवर्ष-पर्यन्त पढ़ाया, फिर भी विद्या का अन्त नहीं हुआ'। व्याकरण ही वह लघु उपाय है, जिसका आश्रय लेकर हम अपने मनोरथ को पूर्ण कर सकते हैं। व्याकरण का अध्ययन समस्त शास्त्रों की वह कुंजी है, जिससे सरलतापूर्वक उनके रहस्यों का उद्घाटन सम्भव है। अतः शास्त्रीय लघुता- सम्पादन भी व्याकरण का प्रयोजन है।

(ङ) असन्देह - वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न 'सन्देह' का निराकरण व्याकरण ही कर सकता है। ऐसे अनेकशः समासयुक्त पद मिलते हैं, जिसमें अनेक प्रकार के समासों की सम्भावना हो सकती है। जैसे 'स्थूलपृषतीम्' में

बहुब्रीहिसमास होगा, या तत्पुरुषसमास ? यही सन्देह का स्थान है। इसका निर्णय स्वरों की सहायता से व्याकरण ही कर सकता है। यदि यह पद अन्तोदात्त है, तो कर्मधारय तत्पुरुष होगा और यदि यह पूर्वपद प्रकृति स्वर है, तो बहुब्रीहि होगा। अतः अर्थ-निर्णय की दृष्टि से व्याकरण का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। जैसा कि गहा गया है -

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।

स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥

अर्थात्, हे पुत्र! यद्यपि तुमने अनेक शास्त्रों को अध्ययन कर लिया है, फिर भी व्याकरणशास्त्र को अवश्य पढ़ो, जिससे तुम्हें शब्दों का यथार्थ ज्ञान हो सके। उपर्युक्त पत्रच प्रधान प्रयोजनों के अतिरिक्त भाष्यकार पतञ्जलि ने दुष्टशब्द-निवारण, अर्थज्ञान, धर्मलाभ, नामकरण, अपभाषण- निवृत्ति इत्यादि तेरह अन्य प्रयोजनों का भी उल्लेख किया है। इन सबका सम्मिलित प्रयोजन म्लेच्छता-निवारण है, जिससे अपशब्द- भाषण से बचा जा सके। इस विषय में शतपथब्राह्मण की भी सहमति प्राप्त है- “एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति” ॥

अर्थात् एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके, यदि शास्त्रानुसार उसका प्रयोग किया जाय, तो स्वर्गलोक में और इस लोक में दोनों जगह सफलता की प्राप्ति सुनिश्चित होती है।

प्र.4 व्याकरण की परिभाषा स्पष्ट कीजिये।

उत्तर -‘व्याकरण’ इस पद का अर्थ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में ‘लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्’ इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार पतञ्जलि जी लिखते हैं-“लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति” ॥ अर्थात् ‘लक्ष्य’ और ‘लक्षण’ दोनों का समुदाय ‘व्याकरण’ है। ध्यातत्व है कि यहाँ पर शब्द ‘लक्ष्य’ है तथा सूत्र ‘लक्षण’ है- “ शब्दो लक्ष्यः सूत्रं लक्षणम्” ॥

‘व्याकरण’ प्रकृति और प्रत्यय के उपदेशपूर्वक पदों के स्वरूप तथा उसके अर्थनिर्णय के लिए प्रयुक्त होता है। ‘व्याकरण’ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र-“व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्” ॥ व्याकरण को वेद-पुरुष का मुख माना जाता है- “मुखं व्याकरणं स्मृतम्” ॥ अर्थात् जिस प्रकार मुख के बिना भोजन आदि के न

करने से शरीर की पुष्टि असम्भव है, उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेद-पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असम्भाव्य है।

प्र.5 महाभाष्यकार ने साधु शब्द के प्रयोग का क्या परिणाम बताया है ?

उत्तर- “एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति” ॥ अर्थात् एक भी साधु शब्द का अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त करके यदि शास्त्रानुसार उसका प्रयोग किया जाय, तो वह इस लोक में और परलोक में सफलता का कारण बनता है। ‘साधु’ शब्दों के प्रयोग से पग-पग पर अनेकशः लाभ मिलते रहते हैं, इनमें से कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं-

(क) म्लेच्छता-निवारण - ‘साधु’ शब्दों के प्रयोग से म्लेच्छता की निवृत्ति होती है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण है - “तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छो मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्” ॥ अर्थात् एक बार प्राचीनकाल में दैत्यों ने यज्ञस्थल में “हे अरयः ! हे अरयः” के बदले असाधु शब्द “हेलयः हेलयः” का प्रयोग किया और परिणामतः पराभव को प्राप्त हुए। अतः ब्राह्मण को म्लेच्छन (अपशब्दभाषण) नहीं करना चाहिए। यह अपशब्द ही म्लेच्छरूप से प्रसिद्ध है। हम साधु शब्द के प्रयोक्ता हों, इस निमित्त व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

(ख) अशुभफल-निवृत्ति - ‘साधु’ शब्दों का प्रयोग करके अनर्थों से बचा जा सकता है, क्योंकि स्वरदोष अथवा वर्णदोष से दूषित प्रयोग में लाया गया असाधुशब्द, अनुकूल फल (अर्थ) का प्रतिपादन नहीं करता है, अपितु वह असाधुशब्द ही वाणीरूपी वज्र बनकर प्रयोक्ता (यजमान) को ही नष्ट कर डालता है, जैसे- “स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व” इस मन्त्र के असाधुप्रयोग के कारण इस मन्त्र का प्रयोक्ता यजमान स्वयं विनष्ट हो गया -

“ दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानो हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ॥

(ग) अर्थज्ञान - वैदिक मन्त्रों के अर्थ समझने के लिए व्याकरण का जानना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरणज्ञान के अभाव में साधु-शब्दों का प्रयोग सम्भव नहीं है।

(घ) धर्मलाभ - शब्दों का व्यवहार करते समय, जो कुशल व्यक्ति, साधु शब्दों का प्रयोग करता है, वह विद्वान व्यक्ति स्वर्ग में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है, किन्तु अपशब्दों का प्रयोग करने से वह अनेकविध पापों का भाजन बनता है-

“यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र बाग्योगविद् तुष्यति चापशब्दैः ॥”

(ङ) नामकरण - गृह्यसूत्रकारों का कथन है कि उत्पन्न हुए जातक का नामकरण ‘साधु’ हो, इसके लिये आवश्यक है कि उसे कृदन्त होना चाहिए, तद्धितान्त नहीं। नाम का पहला व्यंजन घोष होना चाहिए, मध्य का व्यंजन अन्तस्थ होना चाहिए तथा नाम का प्रारम्भ वृद्धिसंज्ञक (आ, ऐ, औ) अक्षरों से नहीं होना चाहिए। इस सूक्ष्म तथ्य का ज्ञान व्याकरणज्ञान से ही सम्भव है। अतः साधुशब्दप्रयोग ‘नामकरण’ योग्यता को प्रदर्शित करता है।

(च) मूर्खता-निवारण - साधु शब्दों के प्रयोग से व्यक्ति मूर्ख नहीं अपितु विद्वान् समझा जाने लगता है। जो लोग इन साधु शब्दों को प्रयोग नहीं जानते किंवा नहीं करते वे मूर्ख समझे जाते हैं, जैसे - प्रत्यभिवादन में नामों को प्लुत करके उच्चरित न करना, पुरुषों, स्त्रियों अथवा प्रवासियों के विषय में यथानिर्दिष्ट साधु उच्चारण न करना । यदि साधु शब्दों का प्रयोग किया जाय, तो इस प्रकार की मूर्खता से बचा जा सकता है-

“अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ...।”

(छ) अन्तःकरण की पवित्रता - जिस प्रकार चलनी से सत्तू चाल करके शुद्ध कर ली जाती है, उसी प्रकार विद्वान लोग साधु शब्दों के द्वारा वाणी को शुद्ध अर्थात् असाधु शब्दों से अलग कर लेते हैं। ऐसे वैयाकरण विद्वानों के अन्तःकरण प्रकृति प्रत्ययों के विभागों का पहले ज्ञान रखने से अनन्तर ‘साधु’ शब्दों का प्रयोग करने के कारण शुद्ध अन्तःकरण वाले हो जाते हैं।
महाभाष्यकार कहते हैं -

“सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत” ॥

4.5 सारांश

उपयुक्त इकाई के माध्यम से आपने महाभाष्य के आह्निक में कहे गये शब्द के स्वरूप, शब्दार्थसम्बन्ध, व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजन, व्याकरण की परिभाषा और लोक व्यवहार में व्याकरण से प्राप्त होने वाले लाभों को जाना ।

4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. पतञ्जलिकृतमहाभाष्यम् - पस्पशाह्निकम् - चारुदेवशास्त्री (व्याख्याकार)
2. पतञ्जलिकृतमहाभाष्यम् - पस्पशाह्निकम् - विशनसिंह गौड़ (टीकाकार)
3. पतञ्जलिकृतमहाभाष्यम् - पस्पशाह्निकम् - वेदप्रकाश विद्यावाचस्पति

4.7 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

1. सन्दर्भ प्रसंग सहित व्याख्या कीजिये -
 - क. अथ शब्दानुशासनम् ।
 - ख. रक्षोहागमलघ्वसन्द्रहाः प्रयोजनम् ।
 - ग. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ।
 - घ. गर्गादिविदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिः ।
2. पस्पशाह्निक का सामान्य परिचय दीजिये ।
3. पतञ्जलि के अनुसार शब्द का स्वरूप स्पष्ट कीजिये ।
4. व्याकरणाध्ययन के मुख्य प्रयोजनों का विवेचन कीजिये ।
5. व्याकरणाध्ययन के गौण प्रयोजनों का विवेचन कीजिये ।
6. व्याकरण का महत्त्व प्रतिपादित कीजिये ।

इकाई - 5

निबन्ध

इकाई की रूपरेखा

- 5.1 उद्देश्य
- 5.2 प्रस्तावना
- 5.3 निबन्ध
 - 5.3.1 वेदानां महत्त्वम्
 - 5.3.2 रम्या रामायणी कथा
 - 5.3.3 भारतीय दर्शनानां महत्त्वं वैशि"ट्यं च
 - 5.3.4 उपमा कालिदासस्य
 - 5.3.5 भारवेरर्थ गौरवम्
 - 5.3.6 बाणोच्छि"टं जगत्सर्वम्
 - 5.3.7 पर्यावरण संरक्षणम्
- 5.4 सारांश
- 5.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 5.6 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

5.1 उद्देश्य

- 1 छात्रों को निबन्ध लेखन कला से परिचित कराना ।
- 2 छात्रों में अभिव्यक्ति कौशल का विकास करना ।
- 3 संस्कृत लेखन क्षमता का विकास करना ।

5.2 प्रस्तावना -

निबन्ध लिखना एक कला है, तथा उच्चस्तरीय कक्षाओं में निबन्धलेखन छात्रों के अभिव्यक्ति कौशल तथा वैचारिकशक्ति के विकास के लिए अनिवार्य है। साथ ही संस्कृत में निबन्ध लेखन से संस्कृत भा"ा में लेखनकौशल का विकास भी होगा। अतः कुछ वि"ायों को यहाँ निबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।।

5.3 निबन्ध

5.3.1 वेदानां महत्त्वम्

रूपरेखा - (1) वेदशब्दार्थः (2) वेदानां वैशिष्ट्यं (3) वैदिकं साहित्यम् (4) वेदानां धार्मिकमहत्त्वम् (5) वेदानां सांस्कृतिकमहत्त्वम् (6) वेदानां शास्त्रीय-महत्त्वम् (7) नैतिकमहत्त्वम् (8) सामाजिकमहत्त्वम् (9) आर्थिकमहत्त्वम् (10) राजनीतिकमहत्त्वम् (11) भाषावैज्ञानिकमहत्त्वम् (12) ऐतिहासिक-महत्त्वम् (13) काव्यशास्त्रीयं साहित्यिकं च महत्त्वम् (14) उपसंहारः

(1) वेदशब्दार्थः - विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा धर्मादिपुरुषार्था एभिरिति वेदाः। 'विद् ज्ञाने' इति ज्ञानार्थकाद् विद्धातोर्धञि प्रत्यये कृते इति रूपं निष्पद्यते। एवं वेदशब्दो ज्ञानार्थकः। ज्ञानराशिर्वेद इति वक्तुं शक्यते। विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे, विद् लाम्, विद् चेतनाख्याननिवासेषु इति धातुभ्योऽपि घञि वेदरूपं निष्पद्यते। वेदा ज्ञानराशित्वात् शाश्वतस्थायिनः, ज्ञाननिधयः, मानवहितप्रापकाः, मनुजकर्तव्य-बोधका इति विविधधात्वर्थ-ग्रहणाद् ज्ञायते। एवं वेदो हि नाम अशेषज्ञानविज्ञानराशिः।

(2) वेदानां वैशिष्ट्यम् - वेदार्थानुशीलनाद् ज्ञायते यद् वेदा हि विविधज्ञान-विज्ञानराशयः संस्कृतेराधाररूपाः, कर्तव्याकर्तव्यावबोधकाः शुभाशुभनिदर्शकाः, जीवनस्योन्नायकाः, विश्वहितसंपादकाः, आचारसंचारकाः, सुखशान्तिसाधकाः, ज्ञानालोक-प्रसारकाः, सत्यतायाः सरणयः, कलाकलापप्रेरकाः, आशाया, आश्रयाः, नैराशयविनाशकाः, चतुर्वर्गावाप्तिसोपानस्वरूपाश्च सन्ति।

वेदानां महत्त्वविचारचिन्तायां कतिपयेऽनुयोगाः पुरतोऽवतिष्ठन्ते। कति वेदाः? किं वेदानां महत्त्वम्? किं वेदानां वेदत्वम्? किं तत्र विशिष्टं ज्ञानम्? किं तेषां व्यावहारिकी उपयोगिता? किं वेदाध्ययनस्य जीवने उपयोगित्वम्? किं च समस्याबहुले जगति समस्या-निराकरणत्वं वेदानाम्? किं च वेदानां धार्मिकं राजनीतिकम् आर्थिकं भाषावैज्ञानिकम् ऐतिहासिकं काव्यशास्त्रीयं शास्त्रीयं सामाजिकं सांस्कृतिकं च महत्त्वम्? इत्येवात्र समासतो प्रस्तूयते।

(3) वैदिकं साहित्यम् - मुख्यत्वेन वेदशब्दः ऋग्यजुःसामाथर्वनामभिः प्रचलितानां चतसृणां वेदसाहितानां बोधकः। एतेषामेव चतुर्णां वेदानां व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्थाः सन्ति, येषु वैदिककर्मकाण्डस्य विशदं वर्णनमस्ति। एतेषु वेदानाम् आध्यात्मिकी व्याख्याऽपि प्रस्तूयते। एतेषां परिशिष्टरूपेण आरण्यकग्रन्थाः सन्ति। एषु अध्यात्मविद्याया विवेचनं प्राप्यते। उपनिषत्सु च तस्या एवा- अध्यात्मविद्याया- श्वरमोत्कर्षः संलक्ष्यते। वैदिकसाहित्य-शब्देन समग्रोऽपि मन्त्र- ब्राह्मण-आरण्यक- उपनिषत्-संग्रहरूपो निधिर्गृह्यते।

(4) वेदानां धार्मिकं महत्त्वम् – वेदा मन्वादिभिः ऋषिभिः परमप्रमाण-
त्वेनोपन्यस्ताः। ‘वेदोऽखिलो धर्ममूलम्’ (मनुस्मृति 2.6) इति समुद्घोषयता
मनुना समग्रस्यापि वेद- निधेर्धर्माधाररूपेण प्रतिष्ठा विहिता। वेदा मनु”याणाम्
आचार- संहिता- रूपेण प्रमाणीक्रियन्ते ।

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

सर्वेऽपि विद्वत्तल्लजा भारतीयाः दार्शनिकाः, आचारशिक्षणप्रवणाः स्मृतिकाराः,
शब्दतत्त्वमीमांसादक्षा वैयाकरणाः, अन्ये च शास्त्राकारा वेदानां परमप्रामाण्यं
प्रतिपदम् उद्घोषयन्ति। अतएव महर्षिणा पतञ्जलिना कर्तव्यत्वेन समादिश्यते
यत्- ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। स्मृतिकारैर्न एतावतैव
विरम्यते, अपितु निर्दिश्यते यत् ब्राह्मणेन एकनिष्ठया वेदाध्ययनं संपाद्यम्। एतद्
ब्राह्मणस्य परमं तपः। यश्च वेदाध्ययनम् अवमत्य शास्त्रान्तरे कृतमतिः, स
जीवन्नेव सपरिवारः शूद्रत्वम् उपयाति ।

(4) वेदानां सांस्कृतिकं महत्त्वम् – भारतीयायाः संस्कृतेर्मूलस्रोतोऽनुसंधीयते
चेत् वेदा एव तन्मूलस्रोत- स्त्वेनोपतिष्ठन्ति। भारतीयायाः संस्कृतेर्मूलरूपं
वेदेष्वेवोपलभ्यते। वेदेष्वेव प्राक्तभारतीयानां जीवनदर्शनं, कार्यकलापः, आचार-
विचारः, नैतिकं सामाजिकं च चरितं प्राप्यते । मानवानां विविधकर्तव्यादिनिर्धारणं
तत्रैवोपलभ्यते।

लोकमान्य-तिलकमहाभागास्तु वेदेषु प्रामाण्यबुद्धिमेव आर्यत्वस्य लक्षणं
व्यादिशन्ति- ‘प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु’, वेदेष्वेवार्याणां संस्कृतेर्विशुद्धं रूपं विस्तरशः
प्राप्यते। आर्याणां यज्ञेषु दृढविश्वासः, एकेश्वरवादेन सहैव बहुदेवतावादस्यापि
स्वीकरणम्, अनासक्तभावनया कर्मविधिः, ईश्वरस्य सर्वव्यापकत्वम्, ज्ञान- कर्मणोः
समन्वयः, भौतिकवादं प्रत्यनास्था, पुनर्जन्मनि विश्वासः, मोक्षस्य जीवनोद्देश्यत्वं
चेत्यादितयानि वेदेष्वेव प्राप्यन्ते।

विश्वसंस्कृतेरैतिह्यं गवेषितं चेत् वेदा एव सर्वप्रमुखत्वेन दृष्टिपथम्
अवतरन्ति। अस्मिन् संसारे संस्कृतेः सभ्यतायाश्च कथमिव विकासोऽ- भूदित्यर्थं
वेदानुशीलनम् अनिवार्यम् आपद्यते। तत एव क्रमिक- विकासस्य प्रक्रिया प्राप्यते।
अतएव यजुर्वेदे प्राप्यते- ‘सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा’ (यजु. 7.14), वैदिकी
संस्कृतिः प्रथमा संस्कृतिरासीत्।

(6) शास्त्रीयं महत्त्वम् – वेदानां शास्त्रीयं महत्त्वं सर्वतोमुख्यं वर्तते।
‘सर्वज्ञानमयो हि सः’ इति वदता मनुना वेदानां सर्वविधज्ञाननिधानत्वम् उरीकृतम्।
यदि विचारदृशा समीक्ष्यते तर्हि वेदेषु बीजरूपेण दार्शनिकाः सिद्धान्ताः, राजनीतिः,

समाज- शास्त्रम्, कामशास्त्रम्, अन्याश्च विविधाः कलास्तत्र तत्र वर्ण्यन्ते ।
तथ्यमेतद् निदर्शनरूपेण नाट्यशास्त्रकृतो भरतमुनेर्विवेचनेन विशदीभवति-

जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च ।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ नाट्यास्त्र 1.17

(7) नैतिकं महत्त्वम् - वेदानाम् आचारशिक्षा-दृष्ट्या, नैतिक-दर्शनरूपेण चातीव महत्त्वं वर्तते । कर्तव्योद्बोधनरूपेण तेषां परमं प्रामाण्यं वर्तते । किं कर्म, किम् अकर्मैति चिन्तायां वेदा एवादृशरूपेण प्रस्तूयन्ते । अतएव मनुनाच्यते -

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः, साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनु. 2.12

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम्, अनुतिष्ठन् हि मानवः ।

इहकीर्तिमवाप्नोति, प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ मनु. 2.9

(8) सामाजिक महत्त्वम् - समाजशास्त्रीयदृष्ट्याऽपि वेदा अत्यन्तं महत्त्वपूर्णाः सन्ति । समाजस्य विकासस्य, सभ्यतायाः समुन्नतेः, वर्णानां विविधवृत्तिपराणां नराणां च कर्म-कलापस्य, सामाजिक्या व्यवस्थायाश्च महत्त्वपूर्णम् इतिवृत्तं वेदेषु-पलभ्यते । प्राक्तनस्य समाजस्य किं स्वरूपमासीदित्यपि तत एवाप्तुं पार्यते ।

(9) आर्थिकं महत्त्वम् - अर्थशास्त्रदृष्ट्याऽपि वेदा अत्यन्तं महत्त्वम् अस्ति । वेदेषु प्रत्नाया अर्थव्यवस्थायाः स्वरूपं स्फुटं समवाप्यते । आदान-प्रदानस्य, क्रय-विक्रयस्य, व्यापारस्य वाणिज्यस्य च, गणादिपशूनाम्, कृषि-धान्यादीनां च का व्यवस्थाऽवस्था चासीदित्यपि तत्र प्राप्तुं शक्यते । आदान-प्रदानस्य महत्त्वं यजुर्वेदे वर्ण्यते -

देहि मे ददाति ते, नि मे धेहि नि ते दधे ।

निहारं च हरासि मे, निहारं नि हराणि ते ॥ यजु.3.50

(10) राजनीतिकं महत्त्वम् - राजनीतिशास्त्रदृष्ट्यापि वेदानां महत्त्वं नावमूल्ययितुं शक्यते । वेदेषु राज्ञः प्रजायाश्च कर्माणि, राजतन्त्रस्य विविधं स्वरूपम्, राज्ञो वरणम्, सभायाः समितेश्च संस्थापना, मन्त्रिपरिषदो मनोनयनम्, राजतन्त्रीया प्रजा- तन्त्रीया च शासनव्यवस्था, शत्रु-संहारः, सामदण्डादिविधीनां प्रयोगः समु-पलभ्यन्ते । वेदेषु राज्ञो निर्वाचनस्य, प्रजातन्त्रीयाया राज्यव्यवस्थायाश्चापि समुल्लेखो विविधेषु स्थलेषु उपलभ्यते ।

(11) भाषावैज्ञानिकं महत्त्वम् - तुलनात्मकभाषाविज्ञानस्याध्ययनाय वेदानाम् अतीव महत्त्वं विद्यते । वेदा विश्वस्य प्राचीनतमाः समुपलब्धाः ग्रन्थाः । तत्रापि

ऋग्वेदस्य प्राचीन- तमत्वेन भाषायाः प्राचीनतमं रूपं प्राप्यते। पारसीकधर्मग्रन्थ- जेन्दावेस्ता (छन्दोऽवस्था)-ग्रन्थेन सह तुलनायाम् अवेस्ता-भाषया सह वैदिक- भाषाया घनिष्ठः सम्बन्धो दृश्यते। ऋग्वेदीया मन्त्रा अवेस्ता- भाषायाम् अवेस्ता- मन्त्राश्च वैदिकमनीषु च परिवर्तयितुं शक्यन्ते। तुलनात्मकभाषाविज्ञानस्य दृष्ट्या विशेषतो वेदानाम् अध्ययनं पाश्चात्यदेशेषु प्रवृत्तम्। वैदिक-संस्कृत- भाषाया लौकिक-संस्कृतस्य, ततश्च भाषाणाम् अन्यासां जनिक्रमस्यावबोधाय वेदानाम् अध्ययनम् अनिवार्यम् ।

(12) ऐतिहासिकं महत्त्वम् - वेदेषु कतिपये ऐतिह्यावबोधकाः सन्दर्भा अपि तत्र तत्रोपलभ्यन्ते। तानाश्रित्य संदर्भान् विद्वद्भिः प्राचीनतमम् ऐतिह्यं प्रस्तूयते। तत्र गङ्गादीनां नदीनाम्(ऋग्. 10.75.5.), दाशराज्ञयुद्धस्य(ऋग्. 7.83.7), पत्र्च जनानाम् (ऋग्.3.37.9), विविधानां वर्णानां वृत्तीनां च (यजु.30.5-22) उल्लेखः प्राप्यते।

(13) काव्यशास्त्रीयं साहित्यिकं च महत्त्वम् - काव्यशास्त्रीयदृष्ट्याऽपि वेदानां महत्त्वं प्रशस्यम्। तत्र अनुप्रास- यमक-रूपकादीनाम् अलंकाराणां प्रयोगोऽनेकत्र प्राप्यते। उषःसूक्ते उषसो वर्णने कवित्वस्य स्फुटं दर्शनं जायते। सुन्दरी युवतिः स्ववस्त्राणीव उषाः स्वीयं सौन्दर्यं विस्तारयति। सकलेऽपि भुवने तस्याः सौन्दर्यम् आह्लादकारि व्याप्नोति-

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।

स्वर्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद् दिवः प्रपथ आ पृथिव्याः ॥

(ऋग्. 6.31.4)

(14) उपसंहारः - वस्तुतः वेदाध्ययनं जीवनं पावयति, चिन्ताकुलं जागत् चिन्तायास्त्रायते, लोकानां विविधाः समस्या निवारयति, सद्भावांश्च प्रेरयति, इति सर्वथा वेदानां महत्त्वं सिध्यति।

जनकल्याणकारी-उपदेशाः परामर्शाश्च वेदे"ऽनु निर्दि"ताः सन्ति। ते"गामनु"णनेन मानवसमाजस्य नितरां कल्याणं भवति अतः वेदानां महत्त्वं सर्वैरपि अंगीक्रियते।

5.3.2 रम्या रामायणी कथा

रूपरेखा - (1) वाल्मीकेरादिकवित्त्वम् (2) रामायणस्याविर्भावः

(3) रामायणस्य महत्त्वम् (4) रामायणस्य उपजीव्यत्वम् (5) रामायणस्य लोकप्रियता

(6) रामायणस्य विषयाः (7) उपसंहारः

(1) वाल्मीकेरादिकवित्त्वम् -

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।

आरुढकविताशाखं वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

इह सुविपुले वाङ्मये महाकवेर्वाल्मीकेर्नाम वियति तरणिरिव विद्योतते तमाम् । कविरयं वैदिकवाङ्मयानन्तरं सरसलौकिककाव्योपज्ञो रसभावनिष्णातो धर्मार्थकाम-मोक्षात्मक चतुर्वर्गोपदेष्टा जीवनोन्नायक आदर्शसंस्थापको धर्म- कामः मृदुलसरसपदपरिपूतो माधुर्य-मुद्धीका-रसमनोहरः प्रसादाच्छ्छायास- मलंकृतः कस्य न सचेतसः चेतः आह्लादयति । वाल्मीकिपूर्ववर्ति समग्रमपि वाङ्मय धर्मप्रवणत्वाद् धार्मिकम् आध्यात्मिकं चाभवत् । वाल्मीकिरेव तादृशः प्रगतिशीलो लोकभावाभिज्ञः सरसभावानुविद्धो मानव-मनोविज्ञान-विद्ग्धः कविरासीद् यो रामचरितम् आश्रित्य लौकिकभावमयं रस-भाव-भाषा- लंकारालंकृतं सर्वजनग्राह्यं महाकाव्यं प्रणिनाय । अतएवायम् 'आदिकविः' इत्युपाधिना विभूष्यते । रामायणेऽप्येतत् तथ्यं कविना उल्लिख्यते- "आदि- काव्यमिदं चार्ष पुरा वाल्मीकिना कृतम् ।"

उत्तररामचरितेऽप्येतत् तथ्यं प्रतिपाद्यते -

"ऋषे, आद्यः, कविरसि । आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः ।" इति

राजशेखर आदिकविं प्रशंसति -

योगीन्द्रश्छन्दसां द्रष्टा रामायणमहाकविः ।

वल्मीकजन्मा जयति प्राच्यः प्राचेतसो मुनिः ॥

(2) रामायणस्याविर्भावः - पुण्यसलिलायास्तमसायास्तटे क्रौञ्चवधमवलोक्य तस्य महाकवेः सहसा कारुण्यपूर्णा तेजोमयी वाक् प्रास्फुरत् -

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ (रामायण 1.2.15)

तत्कालादारभ्य भारतीयवाङ्मये लौकिकभावोपेता रामकथामूला रामायणसरित् प्रसृता । एतदेवानुसृत्य महाकविः कालिदासः सीतापरित्याग- प्रसङ्गे अवोचत-

"निषादविद्धान्जददर्शनोत्थः, श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।"

ध्वन्यालोककृद् आनन्दवर्धनाचार्योऽपि वाल्मीकिमेवं स्तौति ।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

(3) रामायणस्य महत्त्वम् – महाकाव्यमिदं रामायणं विशिष्टेनोदात्तत्वेन, भाषाया माधुर्यौजः प्रसादगुण-समन्वितत्वेन, रचनाशैल्याः प्राञ्जलतया, भावानां मनोहरिण्या विवृत्या, सर्वेषां रसानां यथास्थानम् उपन्यासात्, भारतीयायाः, संस्कृतेर्विशदं विवरणात्, तात्कालिक-सभ्यतायाः सुस्पष्टचित्रणेन, आचार-संहितायाः संक-लनेन, नीतिशिक्षायाः संग्रहेण, आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेदादीनां यथायथम् उपयोगात्, गाम्भीर्येण, अर्थगौरवेण, ललितपदपद्धत्या, मार्मिकभावा-भिव्यञ्जनेन, अलंकाराणां सुनियोजनेन, छन्दसां संगीतात्मकत्वेन च विशालेऽस्मिन् काव्याकाशे कचास्तितमास् । अतएव भूयोभूयो महाकाव्यमिदं संस्तूयते प्रशस्यते अभिवन्द्यते च विद्वद्घोरेयैर्विदग्धैः ।

अनर्घराघवे कविर्मुनिरिः-अहो, सकलकविसार्थ-साधारणी खल्वियं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी (प्रस्तावना) इति वाल्मीकि प्रशंसति । श्री भोजराजो रामायणचम्पूग्रन्थे तं मधुररचनाप्रचारचतुरं कवीनां मार्गदर्शकं चेति मन्यते -

“मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः” ॥

महाकाव्यमिदं परवर्तिनां काव्यानां नाटकानां चोपजीव्यत्वेन संस्तूयते । वाल्मीकेर्मतं यद् रामचरितम् अनाश्रित्य न काव्यानां यशोभाक्त्वं प्रसिध्यति । उक्तं च रामायणे - “न ह्यन्योऽर्हति काव्यानां, यशोभाग् राघवाद् ऋते” ।

(4) रामायणस्योपजीव्यत्वम् – महाकाव्यमेतदाश्रित्य प्रवृत्तानि कानिचित् काव्यानि नाटकानि च दिङ्मात्रमिह उदाह्रियन्ते । भासकृतम्-प्रतिमानाटकम्, कालिदासकृतम् रघु-वंशमहाकाव्यम्, दिङ्नागकृता-कुन्दमाला, भट्टिकृतम्-भट्टिकाव्यम्, भवभूति-कृतम्-महावीरचरितम्, उत्तर-रामचरितं च, मुरारिकृतः-अनर्घराघवः, क्षेमेन्द्र-कृतारामायणमञ्जरी, भोजराजकृतः - रामायणचम्पूः ।

(5) रामायणस्य लोकप्रियता – रामायणस्य तादृशी लोकप्रियता यथा न केवलमेतद् विदुषामेव विभूषणम्, अपि तु सामान्यरूपेण सर्वजनानां धनिनां-निर्धनानाम्, विदग्ध-नाम्-अज्ञानाम्, पुरुषाणां-स्त्रीणाम्, आबालवृद्धं कण्ठाभरणताम् आपद्यते । आचार-संहितारूपेण सर्वत्र आद्रियते, भक्तानां भवनेषु च प्रतिदिनं पारायणक्रियते । अतः सत्यमुच्यते भगवता वाल्मीकिना यद् -

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः, सरितश्च महीतले ।

तावद् रामायणकथा, लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

रामायणमेतद् नवरसरुचिरा कृतिः। अत्र यथास्थानं सर्वेषामपि रसानाम् अभिव्यक्तिरवलोक्यते। तत्रापि विप्रलम्भशृंगारस्य करुणरसस्य चाभिव्यक्तौ चरमोत्कर्षत्वं लक्ष्यते। उक्तं च -

हास्य-शृङ्गार-कारुण्य-रौद्र-वीर-भयानकैः ।

बीभत्साद्भुत-संयुक्तं, काव्यमेतद्गायताम् ॥

रामायणस्य महत्त्वं बृहद्धर्मपुराण-स्कन्दपुराणादिषु जेगीयते।

तद्यथा- बृहद्धर्मपुराणे-

पठ रामायणं व्यास, काव्यबीजं सनातनम्।

यत्र रामचरितं स्यात्, तदहं तत्र शक्तिमान् ॥

स्कन्दपुराणे च -

रामायणं नाम परं तु काव्यं, पुण्यप्रदं वै शृणुत द्विजेन्द्राः ।

यस्मिन् श्रुते जन्मजरादिनाशो, भवत्यदोषः स नरोऽच्युतः स्यात् ॥

(6) रामायणस्य विषयाः - रामायणे क्वचिद् दर्शनानाम्, क्वचिद् आगमानाम्, क्वचिद् उपनिषदाम्, क्वचित् स्मृतीनाम्, क्वचिन्नीतिशास्त्रस्य, क्वचित् विज्ञानस्य, क्वचिन्मनोविज्ञानस्य, क्वचिद् आयुर्वेद-धनुर्वेद-ज्योतिष-मनोविज्ञान-तन्त्रादीनां सारः तत्सम्बद्धा उपयोगिनो विषयाश्च समुपस्थाप्यन्ते। दिङ्मात्रमिह केचन श्लोका उदाह्रियन्तेः। यथा अयोध्या काण्डे -

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा, धर्मो यतः स्यात् तदपक्रमेत।

द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके, कामात्मता खल्वपि च प्रशस्ता ॥

सुन्दरकाण्डे अपि -

कुलीनमकुलीनं वा, वीरं पुरुषमानिनम् ।

चारित्रमेव व्याख्याति, शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।

सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥

अनिर्वेदेः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।

अनिर्वेदो हि सततं, सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ॥

(7) उपसंहारः - रामायणी गङ्गा भुवनत्रयपावनीति प्रशस्यते अताएवोच्यते -
वाल्मीकिगिरिसम्भूता, रामाम्भोनिधि-सङ्गता ।

श्रीमद्रामायणी गङ्गा, पुनाति भुवनत्रयम् ॥

त्रिविक्रमभट्टो नलचम्पूकाव्ये विरोधाभासमाश्रित्य वाल्मीकिम् अभिनन्द- यन्
आह-

सदूषणापि निर्दोषा, सखरापि सुकोमला ।

नमस्तम्यै कृता येन, रम्या रामायणी कथा ॥ (नलचम्पू 1.11)

पुरातनालोचकानां रामायण-प्रशंसा कस्य न मनोहरति । दिङ्नागः
प्रथयति-गम्भीरं ताललयदुष्करविन्यासं महाकवि संघटितमापुरुषचरित्रबन्धं,
महार्थगम्भीरं, केनाप्यश्रुतपूर्वमागमं, गन्धर्ववेदसंवादि सरसं योगविरचित-
वर्णरमणीयकं वीणातन्त्री- रसितानुविद्धं गीतं रामायणम् । सत्यमेवोक्तम् -

विहितघनालङ्कारं विचित्रवर्णावलीमयस्फुरणम् ।

शक्रायुधमिव वक्रं तं वाल्मीकभुवं बन्दे ॥

5.3.3 भारतीयदर्शनानां महत्त्वं वैशिष्ट्यं च

रूपरेखा - (1) प्रस्तावना (2) भारतीयदर्शनानां वर्गीकरणम् (3) भारतीयदर्शनानां
महत्त्वम् (4) भारतीयदर्शनानां वैशिष्ट्यं (5) उपसंहारः

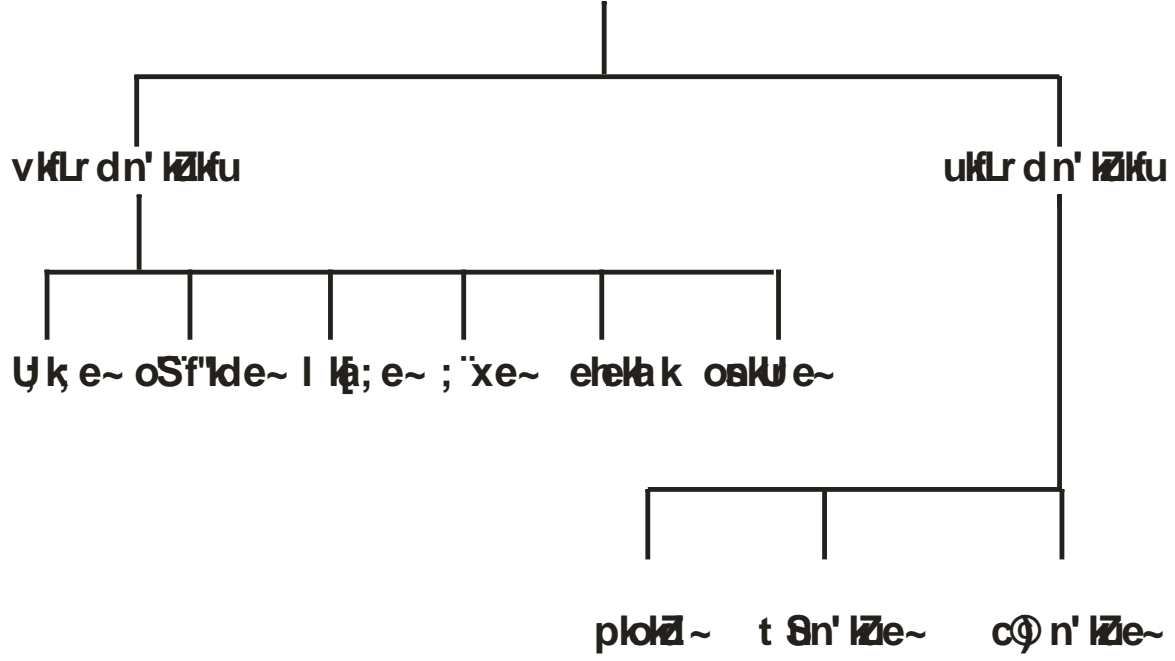
(1) प्रस्तावना - प्रेक्षणार्थकाद् दृश् धातोः (दृशिर् प्रेक्षणे) ल्युट्-प्रत्यये कृते दर्शन-शब्दो निष्पद्यते। किं नाम दर्शनम् ? दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। येन साधनेन इदं विश्वम्, इदं वस्तुजातम्, ब्रह्म, जीवात्मा, प्रकृतिश्च, याथातथ्येन दृश्यते निरीक्ष्यते परीक्ष्यते समीक्ष्यते विविच्यते च तद् दर्शनम्। अतः समग्रमपि आध्यात्मिकम् आधिभौतिकं च विवेचनं दर्शन-शब्दान्तर्गतं भवति। किं ब्रह्म ? तस्य किं स्वरूपम् ? क ईश्वरः ? के तस्य प्राप्ते- रूपायाः ? अस्मिन् जगति किं शाश्वतं तत्त्वम् ? इयं सृष्टिः कुत आबभूव ? जीवात्मनः किं स्वरूपम् ? कः पुनर्जायते ? किं लिङ्गशरीरम् ? जीवस्य कुत उद्भूतिः ? किं तस्य लक्ष्यम् ? कथं मोक्षावाप्तिः ? आत्मा चेतनोऽ- चेतनो वा ? कः सृष्टेः कर्ता ? किं जीवनस्य कर्तव्यम् ? कश्च जीवनस्य साधिष्ठः पन्थाः ? इत्यादयोऽनुयोगा यत्र सुसूक्ष्मेण रूपेण विविच्यते तद् दर्शनम्। सूक्ष्मेक्षिकया तत्त्वार्थदर्शनमेव दर्शनम् इत्यवगन्तव्यम्। यथोच्यते: केनोपनिषदि -

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

(2) भारतीयदर्शनानां वर्गीकरणम् - भारतीयदर्शनानि स्थूलरूपेण द्विधा विभज्यन्ते आस्तिकदर्शनानि, नास्तिकदर्शनानि च। यानि दर्शनानि वेदानां प्रामाण्यम् उरीकुर्वन्ति, तानि आस्तिकदर्शनानीति व्यवहियन्ते। यानि च वेदानां प्रामाण्यं नोररीकुर्वन्ते तानि नास्तिकदर्शनानि। तत्र न्याय-वैशेषिक- सांख्य-योग- मीमांसा-वेदान्ताख्यानि षड्दर्शनानि आस्तिकदर्शनानि अभिधी- यन्ते। चार्वाक- जैन-बौद्धदर्शनानि च नास्तिकदर्शनानि निर्दिश्यन्ते। विभाजनं चैतद् वेदानां प्रामाण्याप्रामाण्य- मूलकमेवेति सम्यग् अवधारणीयम्।

j §kfp«lek; es Li 'VaÖofr & Öjr h n' kzikfu



(3) भारतीयदर्शनानां महत्त्वम् - मोदावहम् एतद् यद् निखिलेऽपि भुवने पाश्चात्याः पौरस्त्याश्च विपश्चितो भारतीयदर्शनानां मुक्तकण्ठेन एकस्वरेण च महत्त्वं स्वीकुर्वते। सत्यपि मतभेदे, सत्यपि राष्ट्रीयपक्षपाते, सत्यपि स्वोत्कर्षविचारे च भारतीयदर्शनानां महत्त्व-विषये न कस्यापि विदुषो विप्रतिपत्तिः। विश्ववाङ्मये भारतीयदर्शनानि ज्ञानप्रभा-भास्वरेण चिन्तनेन, स्व-पर- पक्षालोचन-निपुणेन वैदुष्येण, तत्त्वार्थग्रहणैकप्रवणेन विवेकेन, अधृष्येण धीप्रकर्षेण, संकीर्णता-दोषानवलित्पेन विवेचनेन, पूर्वग्रहरहितेन विश्लेषणेन, मनोज्ञया विवेचनशैल्या, हृद्यया भावाभिव्यक्तया, रुचिरया पदावल्या च तरणिवत् तेजः-समुच्चयेन चकासति।

(4) भारतीयदर्शनाना वैशिष्ट्यम्- भारतीयदर्शनानां चिन्तनपद्धतिरेव पाश्चात्य-दर्शनेभ्यो भिन्ना। पाश्चात्यदर्शनेषु दर्शनानाम् उद्भवविषये विविधा वादाः प्रस्तूयन्ते, तद्यथा-आश्चर्यजन्यत्वम्, सन्देहमूलकत्वम् मानव- व्यवहाराध्ययन- मूलकत्वम्, ज्ञानानुरागमूलकत्वं वा। परं भारतीयदर्शनानां मूलम् आश्चर्यदिकं नास्ति। तस्य मूलं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरस्ति। त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिश्च अध्यात्मज्ञानेन आध्यात्मिक-प्रवृत्त्या वा भवतीति भारतीयविज्ञानां सम्मतम्। यथा सांख्यिका-रिकायाम् -

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

दृष्टे साऽपार्था चेत् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥

सांख्यानुसारं च 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद्' दुःखात्यन्तनिवृत्तिः संजायते ।

(1) अध्यात्मभावना-प्राधान्यम्- भारतीयदर्शनेषु आध्यात्म-भावना अनुस्यूता ओता प्रोता च। आध्यात्मिकी भावनां परिहाय दर्शनानां स्थितिरेव न सम्भाव्यते। किम् आत्मतत्त्वम्? कथं च तदवाप्तिः? इति सर्वेषामेव दर्शनानां प्रमुखः चिन्तनाविषयः। आत्मज्ञानम्, आत्मसाक्षात्कारः, ब्रह्मणा तादात्म्यानुभूतिः, तन्मूलकं च सर्वज्ञत्वम्, इत्यादयो विषया दर्शनानां विवेच्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। यथा बृहदारण्य-कोपनिषदि - आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।

(2) धर्मानुबन्धित्वम् - पाश्चात्यदर्शनेषु धर्मदर्शनयोर्वैयधिकरण्यम्, न तु सामानाधिकरण्यम्, स्वीक्रियते। तत्र धर्मदर्शनयोः पन्थानौ विभिन्नौ, अनपेक्षित्वं चेतरेतरयोः। भारतीयदर्शनेषु तयोः सामानाधिकरण्यं परस्परा- पेक्षित्वं चाङ्गी-क्रियते। यदेव दर्शनेन विविच्यते, तदेव धर्मेण व्यवहियते। एकत्र धर्मतत्त्व-समीक्षा, अपरत्र धर्मतत्त्वव्यवहृतिः। दर्शने चिन्तनं मुख्यम्, धर्मे च कर्मनिर्धारणम्। एवं परस्परानुबद्धे धर्मदर्शने भोगापवर्गयोः सोपान-रूपे स्तः। एतदेव कणादेन पतञ्जलिना चोद्घोष्यते: -

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः । (वैशेषिक.)

भोगापावर्गार्थं दृश्यम्। (योगदर्शन 2.18)

(3) वेदानां प्रामाण्यम् - भारतीयदर्शनेषु षड् आस्तिकदर्शनानि वेदानां प्रामाण्यं स्वीकुर्वते। जैन-बैद्धदर्शनयोरपि वेदानां प्रामाण्यं रुपान्तरेण व्यवहारबुद्ध्या वा स्वीक्रियते एव। केवलं चार्वाकदर्शनं वेदानाम् अप्रामाण्यं प्रस्तौतितराम्।

(4) दुःखत्रयविनाशनम्- भारतीयदर्शनेषु आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकेति। त्रिविधदुःखानाम् आत्यन्तिकवारणाय दर्शनानां जनिरभूत्। एतदेव च दर्शनानां लक्ष्यम्। एतच्च पतञ्जलिना प्रकार-चतुष्टयेन स्फुटी- क्रियते-

(क) हेयम्-दुःखं हेयं त्याजं वा। (ख) हेयहेतुः-किमिति दुःखानि हेयानि ? (ग)हानम्-दुःखानां शाश्वतिकोऽभावः। (घ)हानोपायः- दुःखप्रणाशस्य के उपायाः ? एवं विविच्य दुःखप्रणाशोपाया दर्शनैः प्रस्तूयन्ते।

(5) कर्मफलस्यानिवार्यत्वम्- कृतं क्रियमाणं करिष्यमाणं च कर्म फलभाग् भवति। कृतकर्मणां विपाकरूपेण विविधयोनिषु उच्चावचकुलादिषु च जन्म भवति। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इति भारतीय- दर्शनानां मतम्। अतः कर्मविशुद्धौ आचारशुद्धौ च बलम् आधीयते तज्ज्ञैः ।

(6) पुनर्जन्मनः स्वीकरणम् - चार्वाकव्यतिरिक्तानि भारतीयदर्शनानि कर्मफलानुसारं मानवस्य पुनर्जन्म स्वीकुर्वन्ति। यथा गीतायाम् -

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

(7) मानवजीवनान्वयित्वम्- भारतीयदर्शनानि आचारमीमांसायां मानवस्य कर्तव्याकर्तव्यानां विशदं विवेचनं प्रस्तुवन्ति । किं कर्तव्यम् ? किम् अकर्तव्यम् ? कथम् अभ्युदयः ? कथम् अवनतिः ? मानवजीवनस्यसमस्यानां कथं निरोधः प्रतिकारो वा विधेयः इत्यादयो जीवनसंबद्धा अनुयोगा दर्शनैः समाधीयन्ते ।

(8) चारित्रिकोन्नतेर्महत्त्वम्- भारतीयदर्शनेषु चारित्रिकान्नतौ महद् बलम् आधीयते । अस्तिकानि नास्तिकानि चोभयान्यपि दर्शनानि चारित्रिकीं विशुद्धिम् उन्नतिं च जीवनस्यावश्यकर्तव्यत्वेन उपन्यस्यन्ति । यथा गीताया- मुच्यते -

‘सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणाद- तिरिच्यते’

(9) अज्ञानस्य बन्धनकारणत्वम्- जीवोऽज्ञानवशगो भूत्वा बन्धनम् आपद्यते । स भूया-भूयो जायते म्रियते च । अज्ञाननाशम् अन्तरेण जन्म-मृत्यु-बन्धनाद् न हि मुच्यते जीवः ।

(10) मोक्षस्य जीवनलक्ष्यत्वम् - मोक्षो मुक्तिर्निर्वाणं वा जीवनस्य परमं लक्ष्यम् । मोक्षमधिगत्यैव जीवः स्वजीवनस्य चरमम् उद्देश्य विन्दति । ज्ञानग्निना सर्वकर्मणां विनाशे आत्मसाक्षात्कारे च मोक्षवाप्तिः संजायते । यथा गीतायामुक्तम्-

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।

वेदान्तसारेऽपि सदानन्देनोच्यते -

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(11) स्वतन्त्रास्तित्वम्-पाश्चात्यदर्शनानि राजनीति-धर्मशास्त्र-समाज- शास्त्र-आचार-शास्त्रादी- नाम् अङ्गरूपेण समुद्भूतानि वर्तन्ते, परं भारतीयदर्शनानां समुदयो वैदिककालाद् आरभ्य स्वतन्त्रचिन्तनरूपेणाभवत् । अतोऽस्य स्वतन्त्रम् अस्तित्वं विद्यते । मुण्डकोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽधारत्वेन परिगण्यते - स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।

(12) कालाविच्छिन्नत्वम्- भारतीयदर्शनानि वैदिककालाद् आरभ्य अद्या- वधि अविच्छिन्नरूपेण प्रवहन्ति । सेयं दर्शनधारा पुण्यसलिलाया भागीरथ्या धारेवाविच्छिन्ना भारते विराजते । पाश्चात्यदर्शनानाम् ईसवीयसंवत्सरात् सप्तमशताब्दीपूर्वं प्रसृताऽपि धारा काले काले विच्छेदमाप, पुनरुद्भूता च ।

(13) विचार-स्वातन्त्र्यम् - भारतीयदर्शनेषु विचारस्वातन्त्र्यम् प्रति- पदम् उपलभ्यते । खण्डनं वा स्यात्, हेयम् उपादेयं वा स्यात्, विरुद्धम् अविरुद्धं वा

स्यात्, यदि युक्तियुक्तं विचारपूर्णं वा किञ्चिद् उपस्थाप्यते तद् विदुषां विचारपथम् आरोहति। न पूर्वग्रहमार्गेण किञ्चित् तिरस्क्रियते।

(14) व्यापकम् ईक्षणम्- सत्यान्वेषणं दर्शनानां लक्ष्यम्। अतो न भारतीय-दर्शनेषु संकुचिता दृष्टिरुपलभ्यते। अस्वीकार्यमपि परपक्षं सयुक्तिकं समुपस्थाप्य युक्तिप्रमाण-पुरःसरं तन्निराकरणं क्रियते।

(15) अनुभूतिमूलकत्वम्- भारतीयदर्शनानि स्वानुभूतिजन्यानि विद्यन्ते। सर्वत्रवानुभूतेः प्राधान्यं वरीवर्ति। 'आत्मानं विद्धि' इत्याश्रित्य स्वानुभूतीनां प्रकाशनं दर्शनेषूपलभ्यते।

(16) विवेचन-प्राधान्यम्- भारतीयदर्शनेषु विवेचनात्मकतायाः प्राधान्यं लक्ष्यते। यदेव किञ्चित् प्रतिपाद्यं स्यात् तत् सयुक्तिकं सप्रमाणं परिक्ष्यैव हेयम् उपादेयं वा जायते, न प्रतिज्ञामात्रेण। अत एव भारतीयदर्शनानि दर्शन-जगति रत्नवद् बहुमूल्यानि आकल्यन्ते।

(17) समाजोत्थापन-भावना- भारतीयदर्शनेषु समाजस्य संस्कृतेश्च समुत्थापनस्य महती कामना दृश्यते। दर्शनेषु तथाविधानां तत्त्वानां समवायः स्याद् येन सामाजिकी सांस्कृतिकी च समुन्नतिः संभाव्ययेत। अतएवानके दर्शनकाराः समाजसुधारक-रूपेण प्रथिताः सन्ति।

(5) उपसंहारः- भारतीयदर्शनेषु समन्वयभावना प्रमुखा वर्तते। विविधानि दर्शनानि एकस्यैव पादपस्य विविधशास्त्रारूपेण परिगण्यन्ते।

एवं भारतीयदर्शनानि विवेचनगाम्भीर्येण, आलोचनाचातुर्येण, गूढार्थ-निरीक्षणेन, संवेदनशीलानुभूतिप्रकर्षेण, सत्यान्वेषणानुरागित्वेन, तत्त्वार्थग्रहणप्रवणे-क्षणेन, समन्वयभावनया, मनःस्थित्यनुशीलनेन, अतीतानुरागित्वेन, आध्यात्माभिमुख्येन, पुरुषार्थचतुष्टयसाधकत्वेन, जीवनो-न्नायकत्वेन, दुःखत्रय-विनाशपूर्वक-ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वेन समेषामपि सुधियां समादृति समधिगच्छन्ति।

5.3.4 उपमा कालिदासस्य

रूपरेखा - (1) प्रस्तावना (2) उपमायाः स्वरूपम् (3) दीपशिखा कालिदासः

(4) उपमा कालिदासस्य (5) साम्यमूलका अलंकारः (6) क इह रघुकारे न रमते
(7) उपसंहारः

(1) प्रस्तावना -

कविता कालिदासस्य सविता च पगतपतेः ।

अद्भुता सृष्टिरुद्भूता मनः पद्मप्रबोधने ॥

कविताकामिनीकान्तः कालिदासः कस्य नावर्जयति चेतः सचेतसः। तस्य काव्यसौन्दर्यं प्रेक्षं प्रशंसन्ति सहृदयाः सुधियस्तस्य कलाकौशलम्। तस्य सूक्तयः सुधासिक्ता मञ्जर्यं इव चेतोहराः सन्ति। अत उच्यते बाणभट्टेन हर्षचरिते-‘निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सुक्तिषु। प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते’। कालिदासोऽतिशेते सर्वानपि महाकवीन् औपम्ये। अतः साधूच्यते- ‘उपमा कालिदासस्य’।

(2) उपमाया स्वरूपम् - का नामोपमा? कथं चैषा उपकर्त्री काव्यस्य? विश्वनाथानुसारम्-‘साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयौः’। वस्तुद्वयस्य वैधर्म्यं विहाय साम्यमात्रं चेद् उच्यते एकस्मिन् वाक्ये तर्हि सा उपमा। उपमैषा सौदामिनीव विद्योतते विपुले वाङ्मये। काव्यशरीरे समादधाति महतीं मञ्जुलताम्। कालिदासस्य उपमाप्रयोगेऽपूर्वं वैशारद्यम्। लिङ्गसाम्यस्य औचित्यस्य च समाश्रयेण काचिदपूर्वं सम्पद्यते चारुता तस्योपमासु। शतशः सन्ति उपमाप्रयोगस्थलानि तस्य काव्यादिषु। रघुवंशे तूपमाप्रयोगः सर्वातिशायी।

(3) दीपशिखा-कालिदासः- उपमाप्रयोगे चातुर्येणैव स ‘दीपशिखाकालिदासः’ इति प्रसिद्धिमवाप। रघुवंशे यथा पतिवरा इन्दुमती दीपशिखेव व्यराजत। सा यं यं नरेन्द्रम् उज्झितवती, स स विवर्णवदनो विषण्णश्चाभवत्-

सञ्चरिणी दीपशिखेव रात्रौ, यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।

नरेन्द्रमार्गाह्व इव प्रपेदे, विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

(4) उपमा कालिदासस्य- प्रमुखतया कालिदासीया उपमाश्चतुर्धा विवज- यितुं शक्यते-(1)शास्त्रीयाः, (2) मूर्तस्यामूर्त- तत्त्वेन साम्यम्, (3) प्रकृति- सम्बद्धाः
(4) विविधविषयसम्बद्धाः।

(1) शास्त्रीया उपमाः- शास्त्रीया उपमास्तावत् पूर्वं प्रस्तूयन्ते। शास्त्रीया उपमाअनेकविधाः- देव-दर्शन-यज्ञ-विद्या-व्याकरण-राजनीति-ज्योतिषादि-विषयभेदेन

(क) वेदविषयकाः, यथा- रघुवंशे आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छदसामिव । मनुस्तथैव नृपाणामग्रिमोऽभूद् यथा मन्त्राणामर्कोकारः । सुदक्षिणा नन्दिन्या मार्ग तथैवान्वगच्छद् यथा स्मृतिः श्रुतेरर्थम् - उक्तं हि रघुवंशे -

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।

मार्ग मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥

(ख) दर्शनविषयकाः- यथा बुद्धेः कारणम् अव्यक्तं मूलप्रकृतिर्वा, तथा सरयूनद्याः कारणं मानसं सरः । रघुवंशे उच्यते -

ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ।

दिलीपस्य कृतिविशेषाः प्राक्तनाः संस्कारा इव फलानुमेया आसन्-

फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥

(ग) यज्ञविषयकाः- नृपो दुष्यन्तः शकुन्तलाऽपत्यं भरतश्च त्रयमेतत् क्रमशो विधिः श्रद्धा वित्तं चेति त्रयाणां समन्वयो वर्तते -

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।

श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥

(घ) विद्या विषयकाः- विद्या यथाऽभ्यासेन चकास्ति तथा नन्दिनी सेव्या प्रसादनीया -

विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥

दुष्यन्तपरिणीता शकुन्तला सुशिष्यप्रदत्ता विद्येवाशोचनीयाऽभूत् -

सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयाऽसि संवृत्ता ।

(ङ) व्याकरणविषयकाः- अपवादनियमो यथात्सर्गं बाधते तथैव शत्रुघ्नो लवणासुरं बबाधे । रघुवंशे उक्तम् -

अपवाद इवात्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥

रघुवंशे एव अध्ययनार्थकाद् 'इङ्' धातोः पूर्वम् 'अधि' उपसर्गो यथा शोभाकृद् व्यर्थश्च तथा शत्रुघ्नेन समं सेना -

पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥

(च) राजनीतिविषयकाः- प्रभावशक्तिर्मन्त्रशक्तिरुत्साहशक्तिश्चेति त्रयं यथा अक्षयमर्थं सूते तथा सुदक्षिणा पुत्रं रघुम् असूत ।

असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ।

रघुवंशे वर्ण्यते यत् सीता लवकुशौ तथैवाजनयद् यथा क्षितिः सम्पन्नौ
कोशदण्डविव -

सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डविव क्षितिः ॥

(छ) ज्योतिषविषयकाः- यथा चन्द्रग्रहणनन्तरं रोहिणी शशिनम् उपैति तथैव
शकुन्तला दुष्यन्तमुपगता - उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥

(2) मूर्तस्यामूर्ततत्त्वेन साम्यम्- कालिदासः प्रायशो मूर्तस्य मूर्ततत्त्वेन साम्यं
प्रदर्शयति । क्वचिच्च मूर्तस्य अमूर्ततत्त्वेन, सजीवस्य निर्जीविन, भावपदार्थस्य
अभावपदार्थेन औपम्यं प्रतिपादयति । यथा - दिलीपः क्षात्रधर्मवद् बभौ-
'आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः' स नन्दिन्या धवलं क्षीरं यशसोपमिमीते-
'शुभ्रं यशो मूर्तमिवातिवृष्णः' क्वचित् निर्जीवस्यापि सजीवेन सहौपम्यं लक्ष्यते
मेघदूते कालिदासेनोच्यते सिप्रावतः चाटुकारो जन इव स्त्रीणां खेदं हरति- 'यत्र
स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः, सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः'

(3) प्रकृतिसम्बद्धाः- कामदेवविनाशविषण्णा रतिः वायुवेगाहतदीपस्य धूमावृत-
वर्तिकेव विषादनिमग्ना संजाता । शोकाकुलस्य जनस्य अतीव मनोहरं मनोवैज्ञानिकं
विश्लेषणमिदम् । कालिदासस्य प्रथिततमासूपमासु एकतमैषा । सौन्दर्यमेतस्या
विवेच्यम् कुमारसम्भवे उच्यते -

गत एव न ते निवर्तते, स सखा दीप इवानिलाहतः ।

अहमस्य दशेव पश्य माम्, अविषह्यव्यसने न धूमिताम् ॥

एकाऽन्या हृद्या कल्पनामूलोपमा प्रस्तूयते । अत्र राज्ञो दिलीपस्य राज्यः
सुदक्षिणायाश्चान्तरे वर्तमाना कामधेनुसुता नन्दिनी तथैवाशोभत यथा
दिवस-रात्र्योर्मध्ये सन्ध्या । यथा सन्ध्याया महत्त्वं तथैव नन्दिन्या
महत्त्वमत्राभिव्यज्यते-

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन, प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।

तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥

शकुन्तलायाः कमनीयं कलेवरं लतामनुचकार । कविकल्पनाऽत्र रम्या-

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।

कुसुममिव लोभनीयं योवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥

मेघदूते वर्णितं वर्तते यत्- शोकविह्वला यक्षपत्नी विधुकलेवालक्ष्यत-
'प्राचीमूले तनुमिव कला- मात्रशेषां हिमांशोः' । शाकुन्तले अपि कण्व- स्याशीर्वादा

यत् शकुन्तला सूर्यमिव तेजस्विनं सुतं प्रसूयेत- 'तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनम्'। कण्वमुनिं प्राप्ता शकुन्तला अर्कवृक्षोपरि पतितं कुसुममिवास्त- 'अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्'। राजा दुष्यन्तः शकुन्तलां पुष्पमिव, रत्नमिव, मधुवच्च गणयति -

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-

रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ॥

(4) विविधविषयसम्बद्धाः- रघुवंशे वर्णनं लभ्यते यत् सिंहप्रभावाद् इषु- प्रयोगे विफलीकृतो दिलीपः शिवशक्त्या निश्चलीकृत इन्द्र इव रराज। 'जडीकृत- सयिम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः'। मेघदूते इन्द्रधनुः- सम्पर्केण मेघस्य सैव शोभा भविता या मयूरपक्षेण गोपवेषस्य विष्णोः। 'येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते, बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोप- वेषस्य विष्णोः'। रघुवंशे कालिदासः कवियशोलाभार्थिनम् आत्मानम् उद्बाहुं वामनम् इव मनुते। 'प्रांशुलभ्ये फले लोभाद् उद्बाहुरिव वामनः' ।

(5) साम्यकमूलका अलङ्काराः - कालिदासो न केवलम् उपमाया एव प्रयोगे निष्णतोऽपि तु साम्यमूलकेषु रूपकोत्प्रेक्षतिशयोक्त्यादिषु अलंकारेषु तथैव दाक्ष्यं धत्ते। यद्युपमाया व्यापकोऽर्थो गृह्येत तर्हि एषमप्यलंकाराणां संग्रहोऽत्र सम्भाव्यते। 'उपमा कालिदासस्य' इत्यत्र तात्त्विकदृष्ट्या व्यापकोऽर्थोऽभिप्रेतः। एवं चोत्प्रेक्षादीनामत्र समाहारः। यथा शाकुन्तले- 'ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया, शमीलतां छेतुमृषिव्यवस्यति' शाकुन्तलायाः तपः- साधनं कमलपत्रेण शमीलताछेदनमिवास्ते। अत्रोत्प्रेक्षाया उपमामूलकत्वम्।

(6) क इह रघुकारे न रमते - कस्याभिरुपस्य रघुवंशं न प्रियम्। रघुवंशं वस्तुतः कालिदासस्य कवित्वपरिपाकस्य चरमोत्कर्षः। कालिदासस्य प्रतिभाया यादृ शः परिष्कारो वैशारद्यं वैशद्यं च रघुवंशे निरीक्ष्यते न तथाऽन्यत्र। 'कलासीमा काव्यम्' काव्येषु च रघुवंशम्। अत्र न केवलम् उपमाया एव प्राधान्यम्, अपि तु अन्येषामपि शब्दालंकाराणाम् अर्थालंकाराणां च विनिवेशो यथायथं विधीयते। रसदृ ष्ट्या, भावदृष्ट्या, भाषादृष्ट्या, कथा- संयोजनं-सौष्टवदृष्ट्या, चरित्रचित्रणदृष्ट्या, रुचिसंलापदृष्ट्या, अन्यथा वा कयाचिद् दृष्ट्या परीक्ष्यते समीक्ष्यते चेत् तर्हि रघुवंशं सर्वेषामपि विपश्चितां हृदयावर्जकत्वेन सरसत्वेन मनोज्ञत्वेन भावाभिव्यञ्जनदक्षत्वेन च प्रीतिपात्रं स्तुतिपात्रं श्रद्धास्पदं चास्ते। अत एवोच्यते-कालिदास एवैकः कविः। 'कविः कालिदासः॥'

(7) उपसंहारः- अखण्डभारतस्य भव्यं रूपं कालिदासस्य ग्रन्थेषु परिलक्ष्यते। द्राक्षारसादप्यधिकमधुरा, वैदर्भीरीतिसंवलिताः, प्रसादगुणगुम्फिता- रसूक्तयः कालिदासीयाः कै रसिकैर्न स्वाद्यन्ते। संक्षेपतस्तु हिमालय एवं तस्यार्यावर्तकवेर्मा- नदण्डः। आध्यात्मिकतैव तस्याधारः। प्रकृतिरेव तस्य नायिका। उपमा एव तस्य

लिला। भारतत्वमेव तस्य जीवितम्। सुरभारती एव तस्य माता। उदधिरेव कालिदासीयभारतभूमिसीमा। महाकवेरस्य सुधा धवलकीर्तिः पाश्चात्यानपि देशान् स्वकीयैरमलैर्गुणैर्नितरां मुखरयाम्बभूव। क्रियत्तावद्वर्ण्यत तस्य कविकुलचूडामणेः भारती। तथा हि -

“अमृतेनैव संसिक्ता चन्दनेनैव चर्चिता।

चन्द्रांशुभिरिवोद्घृष्टा कालिदासस्य भारती ।।”

5.3.5 भारवेर्यगौरवम्

रुपरेखा - (1) प्रस्तावना (2) किरातार्जुनीयस्य वैशिष्ट्य (3) भारवेः अभिनवशैली- संस्थापकत्वम् (4) काव्यसौन्दर्यम् (5) भाषासौष्टवम् (6) भावगाम्भीर्यम् (7) अर्थगौरवम्

(1) प्रस्तावना- महाकविभारविः ईसवीयाब्दस्य षष्ठ्यां शताब्द्यां जनिमवा- पेति 634 ईसवीये लिखितेन ‘ऐहोल’ शिलालेखेन निर्विवादं निर्णयते। उदीर्यते च तत्र रविकीर्तिना-

येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।

स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।।

अवन्तिसुन्दरीकथामाश्रित्य दाक्षिणात्योऽयमिति विपश्चिद्भिः स्वीक्रियते। स चायं पुलकेशिद्वितीयस्यानुजस्य विष्णुवर्धनस्य सभापण्डितोऽभूत्। तस्य कृतिरेकैव ‘किरातार्जुनीयम्’ इति समधिगम्यते। समुपलब्धमनेनानुपमं यशः स्वकीयेन अर्थभारभरितेन किरातार्जुनीय-महाकाव्येन।

(2) किरातार्जुनीयस्य वैशिष्ट्यम्- किरातार्जुनीयमदो गुणत्रय-समन्वितत्वाद् भाषासौष्टवाद् भावगाम्भीर्याद् रसान्वितत्वाद् अलंकारालंकृतत्वात् कल्पना- प्रचुरत्वात् सायासरचनानैपुण्याद् विद्वज्जनकण्ठहारत्वम् अगात्। कृतिरियं तस्यार्थगौरवसम्पन्नेति दर्शं दर्शं विपश्चिद्भिः ‘भारवेर्यगौरवम्’ इति साह्लाद- मुद्गीर्यते। महाकाव्यस्यैतस्य टीकाकृत् श्रीमल्लिनाथः काव्यमेतद् नारिकेल- फलेनोपमिमीते, बहिः अर्थ- गाम्भीर्यमूलकविलष्टत्वाद् अन्तश्च सरसार्थवत्त्वाद् रसाप्लुतत्वम्। उक्तं च - मल्लिनाथेन

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद् विभज्यते।

स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्।।

काव्यमेतद् बृहत्त्रय्यामन्यतमं गण्यते। ग्रन्थद्वयं चान्यद् वर्तते- माघविरचितं शिशुपालवधम्, श्रीहर्षप्रणीतं नैषधीयचरितं च। समग्रेऽपि संस्कृतवाङ्मये नैतादृशम् ओजोगुणसमन्वितं काव्यान्तरम्। अष्टादशात्र सर्गाः। किरातवेषधारिणा शिवेन सहार्जुनस्य संगरोऽत्र वर्ण्यते। वीररसोऽत्र प्रधानः, रसाश्वान्ये गौणाः। श्री-समन्वितं काव्यमेतदिति संसूचनाय 'श्री' शब्देन महाकाव्यमारभते, प्रतिसर्गान्ते च 'लक्ष्मी' शब्दं प्रयुङ्क्ते।

'दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु' इत्यनेन भारवेस्तरणिवत् काव्याकाशे भासमानत्वं ज्यौतिर्वलयितत्वं च व्यज्यते। निराशासन्त्रस्तस्वान्ते प्रकाश-किरणप्रकाशनेन व्यपगमयति मोहतिमिरम्। 'पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते 'जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः' इत्यत्रापि।

(3) भारवेः अभिनवशैलीसंस्थापकत्वम्- भारविः संस्कृतवाङ्मये अभि- नवायाः शैल्याः प्रवर्तकः। काव्ये किम् अर्थगौरवमेव स्यात्, भाषालावण्यं वा, भावगाम्भीर्यं वा, सरसा परिष्कृता पदावली वा, प्रौढो बन्धो वेति प्रतिपुरुषं रुचिवैचिंयात् नैकः साधीयान् अध्वा। एतदेव विद्वियमाणेन तेन रुचि- भेदोऽभिधीयते - यथा किरातार्जुनीयस्य अस्मिन् पद्ये -

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।

इति स्थितायां प्रतिपुरुषं रुचौ, सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः॥

इति विप्रतिपत्तौ कतमा सरणिरास्थेयेति विवेचयता तेन स्वाभिमतम् उपस्थाप्यते यत् काव्ये प्रसाद-माधुर्यगुणसंयोजनेन पदानां विशदत्वम्, अर्थगौरवसमन्वितत्वं पुनरुक्तिदोषा- भावः, वर्णनानां क्रमबद्धत्वम् अनिवार्यम्। एवं स गुणालंकाररसभावानां समन्वयम् ईहते। उक्तं हि -

स्फुटता न पदैरपाकृता, न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।

रचिता पृथगर्थता गिरां, न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

(4) काव्यसौन्दर्यम्- काव्ये विस्तारमपास्य अर्थगौरवसमन्वितस्य संक्षि- प्तस्य वाक्यजातस्य प्रयोगस्तथैव सुखदः परिणामसुखश्च, यथाऽल्पस्य महा- प्रभावस्य भेषजस्य प्रयोगो महाव्याधिनिराकरणेन सुखावहः। तादृश्येव वचोयुक्तिः काव्ये साधीयसी -

परिणमसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन् वचसि क्षतौजसाम्।

अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥

भारवेः काव्यसौन्दर्यम् उद्वीक्ष्यैवास्य 'आतपत्र-भारविः' इत्युनाम संजातम् । वात्ययोद्गतः पद्मपरागो वियति सुवर्ण-आतपत्र-लक्ष्मीं धत्ते । सुवर्णछत्रस्य व्योम्नि कल्पनैव कविम् 'आतपत्रम्' आपादयति । यथोक्तम् -

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्भूतः सरसिजसम्भवः परागः ।

वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥

जलक्रीडावर्णने सम्भोगश्रृङ्गारस्य रुचिरं चित्रमुपन्यस्यति । पत्या कामविह्वलायाः कामिन्या हस्ते गृहीते आर्द्रमेखलैव वस्त्रनिरोधेन सखीवद् लज्जारक्षणं चकार -

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि, प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः ॥

सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता, बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ॥

(5) भाषासौष्टवम्- भारवेर्भाषायां लालित्यस्य माधुर्यस्य प्रौढत्वस्य च समीचीनः समन्वयो लक्ष्यते । भावानुकूलाया शब्दावल्या विनियोगस्तस्य प्रमुखं वैशिष्ट्यम् । शब्दालंकाराणाम् अर्थालंकाराणां च प्रतिपदमुपन्यासः सचेतसां चेतांसि नितरामावर्जयति । तपस्यार्थं प्रस्थातुकामस्यार्जुनस्य कथमिव संगीतात्मकं वर्णनम् ?-

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।

मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥

एकाक्षरात्मकः श्लोकोऽयं तस्य वाग्वैभवं द्योतयति -

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।

नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥

अर्थचतुष्टयसमन्वितस्य महायमकस्य प्रयोगो यथा -

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ॥

(6) भावगाम्भीर्यम्- महाकविर्भारविर्विधिविद्यापारदृष्ट्वा अनेकशास्त्र- निष्णातश्च । तस्य वैदिकसाहित्ये, दर्शनेषु, धर्मशास्त्रेषु, राजनीतिशास्त्रे, कामशास्त्रे, पुराणेषु, काव्य अलंकार-नाट्यशास्त्रीषु अस्खलिता गतिः । अतएव तस्य काव्यार्थज्ञानाय अनेकशास्त्रावगाहि ज्ञानमपेक्ष्यते । आगमो दीप इवार्थदर्शने कृत्याकृत्यविवेचने च प्रभावति-

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।

सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥

(7) अर्थगौरवम्- किरातार्जुनीये शतशः सूक्तिमुक्तानां विनिवेशो भारवेर्गुणगौरवं व्यनक्ति । तस्य विविधशास्त्रावगाहिनी नवनवोन्मेषशालिनी च प्रज्ञा सततम् अभिनवम् अर्थं प्रसूते । विद्युद्वद् विद्योतमानास्तस्य सूक्तयः तमःप्रसरमलिनेऽपि चेतसि प्रखरांशुवद् ज्ञानज्योतिः प्रसारयन्ति । प्रतिपदम् अर्थगाम्भीर्यवेक्षणादेव 'भारवेरर्थगौरवम्' इति सामोदमुद्घोष्यते । अविमृश्य- कारित्वस्य दोषस्तेनो- द्भाव्यते-

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

मृदुत्वतीक्ष्णतयोः समन्वयेनैव लोके विजयश्रीलाभः -

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।

अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥

भौतिकविषयाणां दुःखोदकत्वं नश्वरत्वं च कथं साधूपस्थाप्यते -

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।

आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥

शौर्यस्य कोपस्य च समन्वयेनैव लोकजयित्वं सम्भाव्यते -

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥

'शठे शाठ्य समाचरेत्' इति नीतिर्न जातु विस्मरणीया -

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।

तेन गुणार्जनस्य महत्त्वं बहुधा प्रतिपाद्यते - 'सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः', 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः' । स्वावलम्बनेनैव सततं समुन्नतिः- 'विनिपात- निवर्तनक्षमं, मतमालम्बन- मात्मपौरुषम्' ।

राजनीतिविषयकाः शतशः सूक्तयोऽत्रोपलभ्यन्ते यथा - 'प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः', 'परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः', अधिकबलवता विरोधो नेचितः 'प्रार्थना- धिकबले विपत्फला', नीतेराश्रयणेनैव लोकप्रियत्वम् 'नयहीनाद- परज्ज्यते जनः',

नृपचिवयोः ऐकमत्यं सर्वसिद्धिकरम् 'सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रति, नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः' अन्यश्च सूक्तयः - 'हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः'। 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः', 'कामाः कष्टा हि शत्रवः',

एवं भारवेः प्रतिपदं भावसौष्टवम् अर्थगाम्भीर्यं च संलक्ष्यते।

5.3.6 बाणेच्छिष्टं जगत्सर्वम्

अस्ति कविसार्वभौमो वत्सान्वयजलधिकौस्तुभो बाणः ।

नृत्यति यद्रसनायां वेधोमुखरंगलासिका वाणी ॥

महाकवेर्बाणस्य जनिकालविषये वंशादिविषये च न काचन विप्रति- पत्तिः। हर्षचरितस्यादौ तेन वंशादिविवरणं महता विस्तरेण उपस्थाप्यते। जनकोऽस्य चित्रभानुर्जननी राजदेवी च। सम्राजो हर्षस्य समकालीनत्वात् जनिकालोऽस्य ईसवीयसप्तमशताब्द्याः पूर्वार्धोऽङ्गीक्रियते। हर्षचरितं कादम्बरी चेति ग्रन्थद्वयम् अस्य प्रधानतः कृतित्वेनाङ्गीक्रियते। कृतयोऽन्या विवादविषया एव विदुषाम्।

बाणस्य कवित्वप्रशस्तिः- निखिलेऽपि संस्कृतवाङ्मये कविकुलगुरुः कालिदासो यथा रचनाचातुर्येण कल्पानावैचित्र्येण च पद्यबन्धे गरिष्ठो वरिष्ठश्च, तथैव गद्यकाव्यनिबन्धने कविवरो बाणोऽतिशेतेऽन्यान् सर्वानप्य- भिरुपान्। पद्यरचनायां केषुचिदेव पद्येषु उक्तिवैचित्र्येण भावगाम्भीर्येण कृति- कौशलेन वाऽपूर्वा छटा संजायतेऽखिलेऽपि काव्ये। परं नैतावतैव सम्भाव्यते गद्यकाव्येऽपि तादृ श्यनुपमा कान्तिः। गद्यकाव्ये तु भूयान् श्रमोऽपेक्ष्यते। पदे-पदे वाग्वैचित्र्यमर्थगाम्भीर्यं भाववैभवं कल्पानाकाम्यत्वं च दुर्निवारम्। अतः साधूच्यते - 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' गद्यकाव्यबन्धे दण्डी सुबन्धुश्चेति द्वातेतौ बाणेन समं सनामग्राहमुल्लेख्यौ। परं बाणो गरिष्ठो वरिष्ठश्च त्रयाणाम् एतेषां भूयिष्ठ्या मनोभाषभिव्यक्त्या, साधिष्ठ्या शैल्या म्रदिष्ठ्या मनोहरतया, श्रेष्ठ्या साधुतया, प्रेष्ठ्या पदपरिष्कृत्या च। अतः सोऽद्वलेन "बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती" इत्युक्तम्। धर्मदासेन तरुणीलावण्यमस्य कृतौ दृश्यते। यथा -

रुचिर-स्वरवर्ण-पदा रसभाववती जगन्मनो हरति।

सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

गङ्गादेव्या सरस्वतीवीणाध्वनिरेव कृतिष्वस्य निशम्यते। "वीणापाणिपरामृष्ट- वीणानिक्वाणहारिणीम्। भावयन्ति कथं वाऽन्ये भट्टबाणस्य भारतीम्"। जयदेवो बाणं पञ्चबाणेन कामेनोपमिमीते। "हृदयवसतिः पञ्च- बाणस्तु बाणः"। श्रीचन्द्रदेवोऽमुं कविकुञ्जरगण्डभेदकं सिंहं गणयति। "आः सर्वत्रगभीरधीर- कविताविन्ध्याटवीचातुरी- संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः"।

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्- बाणस्य वस्तुविवृतौ वर्णने चापूर्वं वैशारद्यं वीक्ष्य मन्त्रमुग्धत्वमनुभवन्ति मनीषिणः। वर्ण्यस्य वस्तुनोऽणुतमामपि विवृतिं न विजहाति, न किञ्चिदुज्झति परस्मै यत्नेन शक्यं वर्णयितुम्। वर्णनानां व्यपित्वात्, सर्वाङ्गीणत्वात्, सूक्ष्मतमविवरणसमन्वितत्वाच्च 'बाणोच्छिष्टं जग- त्सर्वम्' इति भूयो-भूयो व्यादिश्यते। एतदेवात्र समासतः समुस्थाप्यते। हर्षचरिते कवेर्वर्णन-चातुरी बहुशोऽवलोक्यते। तेषु मुख्यतः उल्लेख्याः प्रसङ्गाः सन्ति-मुमूर्षोर्नृपस्य प्रभाकरवर्धनस्य वर्णनम्, वैधव्य-दुःखपरिहाराय सतीत्वमाश्रयन्त्या यशोवत्या वर्णनम्, सिंहनादस्योपदेशः, दिवाकरमित्रस्य राज्यश्री-सान्त्वनम्। कवेर्गर्मा कमनीयां कादम्बरीमेवाश्रित्याऽवतिष्ठते इत्यत्र नास्ति विप्रतिपत्तिर्विदुषाम्। यत्र तत्र साङ्गोपाङ्गं वर्णनं महता श्रमेण बाणेनोपस्थाप्यते, तेऽत्र प्रसङ्गा नामग्रहं दिङ्मात्रं प्रस्तूयन्ते। तद्यथा- शूद्रकवर्णनम्, चाण्डालकन्यावर्णनम्, विन्ध्याटवी- वर्णनम्, पम्पासरोवर्णनम्, प्रभातवर्णनम्, शबरसेनापतिवर्णनम्, हारीतवर्णनम्, जाबाल्याश्रमवर्णनम्, जाबालिवर्णनम् सन्ध्यावर्णनम्, उज्जयिनीवर्णनम्, तारापीड- वर्णनम्, इन्द्रायुधवर्णनम्, राजभवनवर्णनम्, अच्छोदसरोवरवर्णनम्, सिद्धायतन- वर्णनम्, कादम्बरीवर्णनं च। वाणी बाणो बभूव ह- श्रीगोवर्धनाचार्यस्य सूक्तिरियं सुधियां मोद- मावहति यद् वाग्देवी सरस्वत्येव प्रागल्भ्यमधिकम् अवाप्तुं बाणरूपेण जनिं लेभे उक्तं च -

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।

प्रागल्भ्यमधिकमवाप्तुं वाणी बाणो बभूव ह ॥

बाणस्य कृतिद्वयं समीक्ष्यते चेत् तर्हि वाग्देव्या अवतारस्येव बाणस्य कलाकौशलं भाषामाधुर्यं रसप्रवाहश्च प्राप्यते। वर्णनेषु प्रवाहो मनोज्ञत्वं च न क्वचिदपि न्यूनत्वमुपैति। तद्यथा-विलासवत्याः पुत्रहीनताजन्यविषादस्य वर्णनम्, चन्द्रापीडं प्रेक्ष्य विलासिनीनां विलासवर्णनम्, पुण्डरीकमवलोक्य महाश्वेतायाः प्रेमोद्रेकवर्णनम्, चन्द्रापीडं निरीक्ष्य कादम्बर्या मनोभाववर्णनम्, पुण्डरीकनिधने महाश्वेतायाः कपिञ्जलस्य च विलापवर्णनं बाणस्य सूक्ष्मेक्षणं सहृदयत्वं सहानुभूतिप्रवणत्वं च परिचाययति।

शुकनासोपदेशे कवेः प्रतिभायाश्चरमोत्कर्षो लक्ष्यते। तत्र कवेर्लेखनी भावोद्रेके प्रवहमानेव प्रतीयते। शुकनासोपदेशे साक्षात् प्रतीयते यत्- 'वाणी बाणो बभूव ह'।

बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती - बाणस्य कृतिद्वये प्रतिपदं प्रौढकवित्वदर्शनात् सोहृत्वेन 'बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती' इति समर्थ्यते। बाणस्य वर्णनेषु भाव-भाषयोः सामञ्जस्यम्, भावानुकूलभाषाप्रयोगः, अलं- करणां सुसंयतो विनियोगः, भाषायाम् आरोहावरोहौ, दीर्घतरसमस्त- पदावलीप्रयोगसमनन्तरमेव लघुपदावली- प्रयोगो विशेषतोऽवलोक्यते।

बाणस्तु पञ्चाननः- श्रीचन्द्रदेवो बाणस्तुतिम् आचक्षाणो बाणस्य विन्ध्याटवीरुप- संस्कृतवाङ्मये निर्भीकत्वेन, प्रतिद्वन्द्विकविदर्पदलनेन, सर्व-

विषयावगाहिज्ञानसम्पन्नत्वेन, रस-भाव भाषालंकारप्रयोगवैदग्ध्येन, अर्थगौरवा-
न्वितत्वेन, ध्वन्यात्मकत्वेन च तस्य पञ्चाननत्वं सिंहत्वं वा प्रतिपादयति-

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद् रसे चापरेऽ-

लङ्कारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथा-वर्णने ।

आः सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी -

सञ्चारी कवि-कुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ॥

श्रीचन्द्रदेवो विन्ध्याटवीवर्णनमाश्रित्यैव तस्य पञ्चाननत्वं व्याहरति । वस्तुतः
समग्रमपि तस्य वर्णनं भावगहनं गहनमिव हृदयम् अवगाहते । तथा
विन्ध्याटवीवर्णने समासभूयस्त्वस्य ओजोगुणस्य विरोधाभासस्य च संमिश्रणम् दृ
श्यते ।

ऋषेर्जाबालेर्वर्णने कलायाः कल्पनायाश्च हृद्यं सामञ्जस्यं दृश्यते -

स्थैर्येणाचलानां गाम्भीर्येण सागराणां तेजसा सवितुः, प्रशमेन तुषार- रश्मे-
निर्मलतयाऽम्बरतलस्य संविभागमिव कुर्वाणम्.....शन्तनुमिव प्रिय- सत्यव्रतम्
पशुपतिमिव भस्मपाण्डुरोमशिलष्टशरीरं भगवन्तं जाबालिमपश्यम् । च्छेदसरोवरवर्णने
सरसोऽच्छत्वमिव भाषायाः स्वच्छत्वमपि प्रेक्ष्यम् तस्य तरुखण्डस्य मध्यभागे
मणिदर्पणमिव तिलोक्थलक्ष्म्याः अच्छेदं नाम सरो दृष्टवान् ।

हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः- प्रसन्नराघवकारो जयदेवो बाणं कविता-
कामिनीमनोमन्दिर वासिनं साक्षात् कामदेवमेव मनुते । तस्य कविताकामिनी
सर्वमनोमोहिनी, सर्वचित्ताकर्षिका च । उच्यते च -

हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः ।

केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ॥

बाणो रसविद्धः कवीश्वरः । शृङ्गाररसोऽस्य प्रेष्ठो रसः । स सम्भोग-
विप्रलम्भ- पक्षद्वय-वर्णने समरूपेण दक्षः । सम्भोगशृङ्गारवर्णनापेक्षया विप्रल-
म्भवर्णने तस्य लेखनी प्रवाहमधुरा प्रचारचतुरा च । महाश्वेता कादम्बरी च
स्वप्रियतमं प्रेक्ष्य कथमिव व्याकुलतां भजतः, कथं प्रेमाङ्कुरोदयः, कथं विकासः
पल्लवितत्वं पुष्पितत्वं चेति एतस्य मनोवैज्ञानिकं विश्लेषणं तस्य कवितमत्वं
पञ्चबाणत्वं च साधयति ।

कादम्बरीरसज्ञानाम् आहारोऽपि न रोचते सरस्वतीकण्ठाभरणे उक्तं तर्जिते-
'शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते' । बाणः पाञ्चाली- रीतेर्मूर्धन्यः
कविः । अत्र भावभाषयोः सामञ्जस्यमपेक्ष्यते । भावानुकूला भाषा, रसानुकूला च
भाषा, एवं भाषाया भावस्य च समन्वयेन क्वचित् समास- बहुला पदावली,
क्वचित् समासरहिता प्रसादमाधुर्यगुणसमवेता सालंकृता च पदपङ्क्तिः । हर्षचरिते
वर्णितम् -

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।

विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ।

इत्यनेन कवेरभीष्टं निर्दिश्यते यत् स स्वीये काव्ये अर्थगौरवं रसपरिपाकम् ओजोगुणयुतं शब्दसंयोजनं चाकाङ्क्षति। अतएव क्वचिद् ओजोगुणः, क्वचिद् रसानूकूलं वर्णनम्, क्वचिदर्थगौरवं च परिलक्ष्यते। बाणस्य वर्णनशैली तथा सुमधुरा रसप्रधाना गुणवती यथा एकदा कादम्बरी- पठने प्रवृत्तो मानवः स्वाहारमपि न रोचते। कथायां तथौत्सुक्यं विस्मयत्वं च यथा परिणामजिज्ञासुर्जनो न पाठं निरुन्धे। चन्द्र एव चन्द्रापीडः शूद्रकश्च, पुण्डरीक एव वैशम्पायनः शुकश्च, लक्ष्मीरेव चाण्डालकन्येति को विश्वसितुं पारयति। एतदद्भुतत्वमेव कादम्बर्या रोचकत्वं वर्धयति।

बाणस्य वाणी स्वरचनासु सर्वत्र परिपुष्णाति भारतीयसंस्कृतिम्, आर्य-मर्यादात्रच अनुपालयति। बाणेन तथा अद्भुतं कलाकौशलं वाग्विन्यासविलासं च प्रदर्शितं यथास्य तुलामधिरोदुं न कस्यापि कवेर्कृतिरुत्सहते। अतएवेयमुक्तिः सम्यक् घटते -

“बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्” इति।

5.3.7 पर्यावरण-संरक्षणम्

रुपरेखा - (1) प्रस्तावना (2) पर्यावरणप्रदूषणम् (3) वायुप्रदूषणम् (4) वायु-प्रदूषणनिराकरणम् (5) जल-प्रदूषणम् (6) जलप्रदूषणनिरोधोपायाः (7) भूमि-प्रदूषणम् (8) भू-प्रदूषण-निरोधोपायाः (9) ध्वनि-प्रदूषणम् (10) ध्वनि-प्रदूषणम्-नियन्त्रणम् (11) पर्यावरण-विषयकं भारतीयं चिन्तनम्

- (1) प्रस्तावना- किं नाम पर्यावरणम्- पर्यावृत्तिः पर्यावरणम्, यत् परितः आवृणोति आच्छादयति तत् पर्यावरणम्। ये मनवं परितः आच्छादयन्ति, मानव-जीवनं च प्रभावयन्ति, ते पर्यावरण- शब्देन गृह्यन्ते। तेषु वायुमण्डलं स्थलमण्डलं, तथा रासायनिक-तत्त्वानां च संग्रहो वर्तते। एवं पर्यावरणं भौतिक-जैविक-तत्त्वानां

संकलनेन भवति । भौतिक तत्त्वेषु मृत्तिका, जलं वायुः प्रकाशश्च सन्ति ।
जैविक-तत्त्वेषु समस्तं जीव-जगद् वृक्ष-वनस्पतयश्च सन्ति ।

- (2) पर्यावरण प्रदूषणम्- मानवः स्वक्रिया-कलापेन, अवशिष्ट-पदार्थानाम् ऊर्जायाश्च विमोचनेन यत् प्राकृतिकं सन्तुलनं दूषयति, तत् प्रदूषणम् इति निगद्यते ।

मुख्य प्रदूषणानि सन्ति- 1. वायु प्रदूषणम्, 2. जल-प्रदूषणम्, 3. भूमि-प्रदूषणम् 4. ध्वनि-प्रदूषणम्, 5. रेडियो-धर्मी-प्रदूषणं च ।

- (3) वायु प्रदूषणम् - वायु-मण्डले विविध गैसा विशेषानुपातपूर्वकं सन्ति । ते प्राणिनो जीवनशक्तिं प्रददति । यदि औद्योगिकी-करणेन अन्यैर्वा साधनैः तत् प्राकृतिकम् अनुपातं प्रदूषयन्ति, तर्हि वायु प्रदूषणं संजायते ।

वायु प्रदूषणं मानवस्य स्वास्थ्यं प्रभावयति । कार्बन-मोनो- आक्साइड गैसो मानवस्य चिन्तनशक्तिं न्यूनां करोति । अन्यैश्च गैसैः श्वासरोगाः, नेत्ररोगाः, कैंसर-प्रभृतयो रोगा भवन्ति । वायु-प्रदूषणं ओजोन-स्तरं दूषयति । तत्प्रभावेण वृक्ष-वनस्पतीनां क्षयो भवति । वनस्पतीनां क्षयो मानवजीवनस्य कृते संकटम् उपस्थापयति ।

- (4) वायु-प्रदूषण-निराकरणम्- वायु-प्रदूषण-निराकरणार्थम् एते उपाया लाभकारा भविष्यन्ति । अधिक धूम्र त्याग पराणां वाहनानां प्रयोगे न्यूनत्व-साधनम् । वृक्षाणां छेदनस्य वैधरूपेण निरोधः स्याद्, वृक्षारोपण कार्ये च बाहुल्यं स्यात् । सर्वेऽपि यन्त्रालयाः नगराद् दूरं स्थापिता भवेयुः । परमाणु-विस्फोटे प्रतिबन्धः स्यात् । वायु-प्रदूषण-प्रभावं प्रति जनता जागरुका भवेत् ।

(5) जल-प्रदूषणम् - जलं मानव-जीवनस्य प्रमुखं साधनं वर्तते । पृथिव्याः सप्ततिः प्रतिशतं भागो जलावृतो वर्तते । समुद्रस्य जलं क्षारं भवति, अतः तत् पानार्थम् अनुपयोगि केवलं त्रि-प्रतिशतं जलं मधुरं पेयं च वर्तते । तेनैव मानवानाम् अवस्थितिः वर्तते ।

औद्योगिक-यन्त्रालयानां, रासायनिक-यन्त्रालयानां च यद् अप- शिष्टं प्रवाह्यते, तद् नद्यादिषु प्रक्षिप्यते । तेन जलं दूष्यति । कृषि कार्येषु प्रयुक्ताः कीटनाशक पदार्थाः रासायनिकं खाद्यं च यत् प्रवाह्यते, तद् नद्यादिकं प्राप्नोति, तेन जलं दूष्यते । एवमेव गृहापशिष्टा अपि प्रणाल्यादिभिः नद्यादिकं प्राप्नुवन्ति, तेनापि जल-प्रदूषणं भवति ।

प्रदूषितजलपानेन अनेके रोगाः प्रादुर्भवन्ति । तद् यथा-पाण्डुरोगः, रक्ताल्पता, अतिसारः, ज्वरादिकं च । प्रदूषितजलपानेन गो-वृषभ- महिषादि- पशवोऽपि मृत्युं प्राप्नुवन्ति । वृक्षेषु प्रकाश संश्लेषण क्रियायाम् अवरोधोऽपि जायते ।

- (6) जलप्रदूषणनिरोधोपायाः- जल प्रदूषण निरोधार्थम् एते उपाया आश्रयणीयाः- नगरादीनाम् अपशिष्ट-जल- प्रवाहार्थं प्रणाली व्यवस्था स्यात् । तद् नगराद् दूरम्

अपशिष्टं प्रवाहयेत्। कीट नाशक पदार्थानां प्रयोगः स्वल्पः स्यात्।
परमाणु-विस्फोटेषु प्रतिबन्धः स्यात्। मृत जन्तवो भूमौ निखाता भवेयुः।

(7) भूमि-प्रदूषणम् - भूमिरेव जानानां जीवन-साधनम्। भूमिरेव अन्नदिभिः
मानवं पोषयति। यदि भूम्या उर्वरा-शक्तिः, क्षीयते तर्हि खाद्यान्नं दुर्लभं भविष्यति।
एतदर्थं भू-प्रदूषण-निरोधार्थम् उपायाः करणीयाः।

भू-प्रदूषणस्य कारणानि सन्ति- औद्योगिक-यन्त्रालयानाम् अपशिष्टं
जलं भूमिं प्राप्नोति, तद् भूमेः उर्वराशक्तिं नाशयति। क्षेत्रेषु अपशिष्ट-पदार्थानां
प्रक्षेपणेन मृत्तिका प्रदूष्यते। वनानां वृक्षाणां च छेदेन मृदा-क्षरणं भवति।

(8) भू-प्रदूषण-निरोधोपायाः- कीटनाशक-रसायनानां प्रयोगो नियन्त्रितः स्यात्।
वृक्षादीनां छेदने प्रतिबन्धः स्यात्। शोधित-जलेनैव कृषौ सेचन-व्यवस्था स्यात्।
गृहस्थापशिष्टं मलादिकं गोमयदिकं च कम्पोस्ट-खाद्यरूपेण परिवर्तितं स्यात्।

(9) ध्वनि-प्रदूषणम्- ध्वनिः विचाराणाम् आदान-प्रदानस्य महत्वपूर्णं साधनम्।
सामान्य-ध्वनिः स्वास्थ्याय उपयुक्तोऽस्ति। परं तदेव उग्रं कठोरं वा सत् कर्णपीडां
कर्णरोगादिकं च जनयति। ध्वनि-प्रदूषणेन रक्तचापे वृद्धिः, मांसपेशीषु कठोरता,
अनिद्रा, श्वासरोगाः, शिरोवेदना- प्रभृतयो रोगा जायन्ते। जगति पंचाशत् प्रतिशतं
जनाः तीव्रध्वनिनैव मृत्युं यान्ति।

(10) ध्वनि-प्रदूषणम्-नियन्त्रणम्- ध्वनि-प्रदूषण-नियन्त्रणार्थम् एते उपाया
आश्रयणीयाः- तीव्रध्वनिकारक-यन्त्राणां स्थाने सामान्यध्वनि-कारकानि यन्त्राणि
योजनीयानि। वाहनेषु तीव्र-ध्वनि-करणे प्रतिबन्धः स्यात्। यन्त्रालयेषु कार्यपराः
कर्मकराः कर्णरोग-निरोधाय कर्णेषु किमपि ध्वनि-रोधकं प्रयुञ्जीरन्।
तीव्र-ध्वनिकारकेषु यन्त्रादिषु प्रतिबन्धो विधीयेत।

(11) पर्यावरण-विषयकं भारतीयं चिन्तनम्- संस्कृत-साहित्ये पर्यावरण-
संरक्षणं-विषयकं पर्याप्तं चिन्तनम् उपलभ्यते। वेदेषु, स्मृतिषु, पुराण- ग्रन्थेषु च
पर्यावरण-संरक्षणाय बहुधा निर्देशः प्राप्यते। तदत्र समासत उपस्थाप्यते।

पर्यावरण-संघटक-तत्त्वानि- अथर्ववेदे निर्दिश्यते यत् पर्यावरण- संघटक-
तत्त्वेषु तत्त्वत्रयं, प्रमुखं वर्तते। तानि सन्ति-आपः (जलम्), वाताः(वायुः), ओषधयः
(वनस्पतयः) च। एतानि पर्यावरणं निर्मापयन्ति। अथर्ववेदे उच्यते -

“त्रीणी छन्दांसि कवयो वि येतिरे, पुरुरुपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।

आपो वाता ओषधयः, तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि।।”

वायु-संरक्षणम्- वायुः जीवनस्याधारभूतः। अतस्तस्य संरक्षणम् आवश्यकम्।
वायौ अमृतरूपं प्राणतत्त्वम् ;बालहमदद्ध वर्तते। वायुः सूर्यश्च जगतः रक्षकौ स्तः।
वायुः, वर्षा, अग्निश्च प्रदूषणानि नाशयन्ति। वेदवाक्यानि सन्ति -

“यददो वात ते गृहे, अमृतस्य निधिर्हितः।”

“युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षयः। ”

“वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्।”

ओजोन-स्तर (Ozone Layer) संरक्षणम्-वेदेषु ‘महद्-उल्ब’- नाम्ना ओजोन स्तरो निर्दिश्यते। स्पष्टं निर्दिश्यते यद् ओजोन स्तरः पृथिवीं गर्भस्थ-बालकम् इव संरक्षति। तद् दूषणं विनाशायैव। उक्तं हि ऋग्वेदे-

“महत् तदुल्बं स्थविरं तदासीद्,

येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः ॥”

द्यु-भू-संरक्षणम्- वेदादिषु द्यावा-पृथिव्योः संरक्षणस्य महती आवश्यकता निर्दिश्यते। द्यावा-भूमी मातृ-पितृ-वद् वर्तन्ते। तयोः संरक्षणं सर्वेषां कर्तव्यम्। भूमिः सस्य-सम्पदां प्रददाति, अग्निः लोहतत्त्वं ददाति, वनस्पतयश्च प्राणशक्तिं ददाति। पृथिवीं दिवं च न दूषय। वेदेषु वर्णितम् अस्ति- “पृथिवी माता, द्यौष्मिता ।” “अवतां त्वा द्यावापृथिवी, अव त्वं द्यावापृथिवी ।” “भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृत, अग्निः पिपर्तु-अयसा सजोषाः। वीरुद्भिष्टे अर्जुनं सविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥” “पृथिवीं दृंह, पृथिवीं मा हिंसीः।” “दिवं दृंह, दिवं मा हिंसीः।”

जल-संरक्षणम् - जलं जीवनम् अमृत-तुल्यं भेषजं रोगनाशकं चास्ति, अतस्तस्य संरक्षणम् परमावश्यकं वर्तते। जलं सर्वरोग-प्रशमनं हृद्रोगनाशकं चास्ति। जलं शक्तिवर्धकं रसायनं चास्ति। वेदेषु जलमाहात्म्यं वर्णितम् - “अप्सु अन्तर्विश्वानि भेषजा।” “अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्।” “आपो हृद्द्योत-भेषजम्।” “आपो विश्वस्य भेषजीः।”

पुराणादिषु प्रदूषण-निवारणादेशः - पद्मपुराणे क्रियायोगखंडे निर्दिश्यते यद् गंगादीनां नदीनां प्रदूषणं महत् पातकम् आवहति। अतो गंगादि-जलेषु मूत्रं पुरीषं निष्ठीवनं कफादिकम् उच्छिष्टं वा न त्यजेत्-

“मूत्रं वाऽथ पुरीषं वा गंगातीरे करोति यः ।

न दृष्ट्वा निष्कृतिस्तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥”

वृक्ष वनस्पति संरक्षणम् - वृक्षा मानवं जीवनशक्तिं प्रददाति, प्रदूषणं च नाशयन्ति। ऐतरेय ब्राह्मणे उच्यते - “प्राणो वै वनस्पतिः। ”

अथर्ववेदेऽपि - “वीरुधो वैश्वदेवीः उग्राः पुरुषजीवनीः।”

वृक्षारोपणं जीवनरक्षणार्थं कार्यम् – ऋग्वेदे कथ्यते यद् वृक्षारोपणम् अवश्यं कार्यम्। एते प्रदूषणं निवारयन्ति, प्राणवायुं च ददति, जल-स्रोतांसि च रक्षन्ति। यथा ऋग्वेदे – “वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वम् अखनन्त उत्सम्।”

वृक्षाः शिव स्वरूपाः- शतपथ-ब्राह्मणे शिव ओषधिरूपेण प्रस्तूयते। वृक्षाः कार्बन डाई आक्साइड ; २००० रूपं विषं पिबन्ति, अमृतरूपं प्राणवायुं वितरन्ति। यजुर्वेदे वृक्षादिरूपेण रुद्रं स्तूयते। प्रमाणवाक्यानि सन्ति -

शतपथब्राह्मणे – “ओषधयो वै पशुपतिः ।”

यजुर्वेदे च – “नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः। वनानां पतये नमः। ओषधीनां पतये नमः । ”

एवं संस्कृत-साहित्ये पर्यावरण-रक्षणार्थं बहुविधं वर्णनं प्राप्यते।

5.4 सारांश -

उपर्युक्त निबन्धों के माध्यम से आपने संस्कृत में निबन्ध-लेखन का परिचय प्राप्त किया। इन निबन्धों के पठन और लेखन अभ्यास के पश्चात् निश्चित रूप से आप अन्य विषयों पर भी निबन्ध लिखने में समर्थ हो सकेंगे।

5.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- 5.1 संस्कृत निबन्धशतकम् - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी
- 5.2 वृहद् अनुवाद चन्द्रिका - डॉ. चक्रधर नौटियाल

5.6 स्वपरख पश्न / अभ्यास

निम्नलिखित विषयों पर निबन्ध लिखिये -

- 6.1 वेदानां वैशिष्ट्यम् ।
- 6.2 रामायणस्य महत्त्वम् ।
- 6.3 संस्कृतसाहित्ये बाणभट्टस्यावदानम् ।
- 6.4 भारतीयदर्शनानां स्वरूपम् ।
- 6.5 पर्यावरणसंरक्षणस्य आवश्यकता ।
- 6.6 पर्यावरणविषयक भारतीयचिन्तनस्य प्रासंगिकता ।

